व्यक्तित्व का विकास



महामण्डलेश्वर महेशानन्दगिरि महाराज

श्रीदक्षिणामूर्ति संस्कृत ग्रन्थमाला-२२

व्यक्तित्व का विकास

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीनिरंजनपीठाधीश्वर
महामण्डलेश्वर महेशानन्दगिरि महाराज

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक :

दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

डी-४९/९, मिश्रपोखड़ा

वाराणसी-२२१०१०

प्रथम संस्करण : ई. १९७४

द्वितीय संस्करण : ई. २००७

मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक :

महिम पत्रण (प्रा. लि.)

आगरा

सूची

दो शब्द

प्रपत्त्यैव भवेज्जीवो निर्मलानन्दचिद्घनः ।

व्यक्तित्वस्य विकासे तु महेशो परमावधिः ॥

सन् १९७३ के मई मास में सुन्दर नगर, दिल्ली के नागरिकों ने दीवान रघुनाथ सहाय की अध्यक्षता में एक प्रवचनमाला आयोजित की थी । विषय आधुनिक वर्ग की दृष्टि से रखा गया था एवं भाषा भी तदनुकूल मिश्र ही रहे ऐसा विशेष आग्रह था । अतः प्रामाणिक उद्धरणों का अभाव तथा प्रचलित आंग्ल शब्दों का प्रयोग तथा वाक्य-विन्यास कुछ लोगों को खटकेगा । पर यह अनायास न था । श्री मदनलाल खट्टर ने आशु तथा टंकण का योगदान देकर इसे संभव बनाया । श्री मधुकर कपूर ने इसे प्रकाशन में शीघ्र प्रस्तुत किया । व्यक्तित्व के विकास से जो भी लाभ उठावेंगे वे अवश्य इनके आभारी बनेंगे । हमें आशा है कि प्रस्तुत माला के पुष्प अनेकों के जीवन को सुरभित करके सप्राण बनेंगे ।

आज हमारा जीवन एक उद्देश्य से हीन होकर अपने तथा अपनों के लिये या तो यंत्र बन गया है उपार्जन का, या भारभूत बन गया है । जीवन एक दुर्लभ घटना है जिसका प्रतिक्षण आनन्द-प्राप्ति के लिये है । आनन्द है स्वातंत्र्य में । स्वतन्त्रता जीवन का आयाम है, पर बन गया है राजनीति का नारा । हम विकास प्राप्त कर उस समल स्वच्छन्दता से हटकर निर्मल स्वतन्त्रता प्राप्त करें एवं राष्ट्र को सबल बनावें यही उमारमण से प्रार्थना है ।

६४ सूर्य नगर, आगरा
दीपावली १९७३

शंकरभगवत्पादीय
महेशानन्द गिरि

व्यक्तित्व और विकास

दो चीजों का विचार आवश्यक है—व्यक्तित्व क्या है ? और विकास क्या है ? जब तक व्यक्तित्व के स्वरूप को न समझ लिया जाये और जब तक यह न समझ लिया जाये कि विकास का अर्थ क्या है, तब तक व्यक्तित्व के विकास की तरफ प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है । आज के युग में प्रायः लोग विकास को बिना समझे हुए विकास का विचार करते रहते हैं और इसलिए बड़ा प्रयत्न करने पर भी पहुँचना कहीं चाहते हैं और पहुँच कहीं जाते हैं ! प्रयत्न करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को भोजन मिल जाये पर भोजन अधिक-अधिक दुर्लभ होता जाता है तथा अंत में यह कहना पड़ता है कि सब लोग कम खाना शुरू कर दो । इसका क्या कारण है ? व्यक्तित्व के स्वरूप को और उसके उद्देश्य को समझा ही नहीं गया है ।

व्यक्तित्व का मतलब होता है जो प्रकट हो जाये । हिन्दी में भी 'प्रकट होने' को 'अभिव्यक्ति' कहते हैं । व्यक्त का भाव व्यक्तित्व है; अर्थात्, मनुष्य के भीतर जो तत्त्व है, वह जब बाहर प्रकट होता है, जिस प्रकार से प्रकट होता है, वही उसका व्यक्तित्व है । अन्दर और बाहर में जितना-जितना भेद होगा, उतना ही उतना वह व्यक्तित्व नहीं रह जायेगा क्योंकि व्यक्तित्व का मतलब है—जैसा अन्दर है, वैसा बाहर प्रकट हो सके, क्योंकि तभी वह उसका व्यक्तीभवन (प्रकट होना) होगा । आज हमने व्यक्तित्व को ठीक उल्टा समझ

रखा है—जो आदमी अन्दर और बाहर ठीक उल्टा होता चला जाये, उतना हम समझते हैं कि उसका व्यक्तित्व महान् है । प्राचीन समय में मनुष्य का जीवन एक खुली पुस्तक होता था । घरों का निर्माण तक इस प्रकार से होता था जिसे आज के लोग कहेंगे कि उसमें किसी प्रकार का निजीभवन (प्राइवेसी) नाम की चीज नहीं थी । कारण यह था कि जीवन में कुछ अधिक छिपाना है, ऐसा हम नहीं समझते थे । आज मनुष्य हर चीज को छिपाना चाहता है । कारण यह है कि वह स्वयं अपने स्वरूप से इतना लज्जित है, अन्दर ही अन्दर उसको इतना खराब समझता है कि डरता है कि कहीं प्रकट हो जायेगा तो क्या हो जायेगा ! व्यक्तित्व का मतलब है कि हमारे भीतर का रूप इतना सुन्दर और इतना सुघड़ होना चाहिये कि उसके प्रकट होने से हमें किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव न होकर यह अनुभव हो कि वस्तुतः हम जो कर रहे हैं, वह ठीक है, इसको यदि दूसरे भी करेंगे तो अच्छा होगा । व्यक्तित्व के अन्दर यह चीज हमेशा ध्यान देने की है कि जो हमारे अन्दर है, वही बाहर अभिव्यक्त है । इस अन्दर और बाहर में एकरूपता कैसे लाई जाये और वह कौनसी चीज है जो अन्दर पूर्णरूपता को प्राप्त करे—इस पर धीरे-धीरे विचार करेंगे ।

दूसरी चीज विकास है । विकास का मतलब है कि जिस चीज का एक उद्देश्य निश्चित कर लिया जाये और उस उद्देश्य के जितना समीप पहुँचा जाये, उतना कहा जायेगा कि यह विकास है । गुलाब का फूल पहले कली होता है, तब उसको कहा जाता

है कि यह विकसित नहीं है । फिर जब वह धीरे-धीरे खिलता है, तब भी कहा जाता है कि अभी विकसित नहीं है । उसके बाद एक ऐसी स्थिति आती है जब वह पूर्ण विकसित हो जाता है । लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि सबसे बड़ा हो जाता है । वही गुलाब का फूल उसके बाद भी खुलता है और पहले से अधिक बढ़ रहा होता है, लेकिन मनुष्य कहता है कि अब यह फूल विकसित नहीं हो रहा है, बल्कि अब यह नष्ट होने की तरफ जा रहा है । और उसके बाद उसकी पत्तियाँ झड़ने लग जाती हैं । इसलिये, सबसे बड़ा होना विकसित अवस्था नहीं है । ठीक इसी प्रकार से पौधों में भी यही बात है । मटर छोटी होती है, तब भी खाने में सुख नहीं मिलता और जब बहुत बड़ी हो जाती है, तब भी खाने का दिल नहीं करता । एक अन्तरालावस्था ऐसी आती है जिसमें मटर कोमल है, उसमें कठोरपना नहीं आया है, उसमें स्वाद है । वही उसकी विकसित अवस्था है । यह इसलिये बता रहे हैं कि कई बार मनुष्य समझता है कि जो जितना बड़ा हो जाये, वह उतना ही विकसित हो गया । किन्तु मनुष्य जितने बड़े क्षेत्र में क्रिया करता है, वह उसके विकास का प्रमाण नहीं है । थोड़े से क्षेत्र में पूर्ण क्रिया करता है तो वह विकसित अवस्था है, और यदि बहुत बड़े क्षेत्र में भी केवल 'काम चलता है', जिसे धकापेली कहते हैं, तो वह भी उसकी विकसित अवस्था नहीं है ।

इस प्रजातंत्र में हमारे ऊपर संख्या का नशा छाया हुआ है, जैसे पहले संखिया का नशा होता था ! जितने अधिक व्यक्ति किसी कार्य में सहयोग करें, समझते हैं कि वह कार्य बड़ा है । इसी प्रकार जिसका व्यक्तित्व अधिक लोगों को स्पर्श कर सके, समझते हैं कि उसका व्यक्तित्व विकसित है । लेकिन विकास केवल संख्या या केवल परिधि से सम्बन्धित नहीं हो सकता कि वह कितना बड़ा है, बल्कि इससे कि उसके अन्दर स्पन्द की कितनी तीव्रता है ।

जो स्वयं अपने आप में बड़ा परिवर्तन कर सकता है और जो उसके समीप हैं, उनके अन्दर बड़ा परिवर्तन ला सकता है, उसका व्यक्तित्व विकसित है । आज विचित्र परिस्थिति हो जाती है : मनुष्य संसार का सुधार करने चलता है और जब हम उसे बेटों को सुधारने के विषय में कहते हैं तो कहता है कि 'ये तो हमारी बात नहीं मानते' ! हमको हमेशा अनुभव होता है कि जिसे हमने अपनी गोद में पाला, जिसे हमने अपने रक्त से तैयार किया, यदि वही हमारी बात से प्रभावित नहीं हो पा रहा है तो हमारी बात में कुछ दम नहीं है और उसके द्वारा हम चाहें कि किसी और को प्रभावित कर सकेंगे, यह व्यर्थ अभिमान है । जितनी मनुष्य में तीव्रता होगी, स्पन्द जितना अधिक तीव्र होगा, नजदीक वालों को उतना अधिक प्रभावित और परिवर्तित कर सकेगा । विकास का मूल तात्पर्य है कि किसी भी नवीन परिस्थिति के अन्दर परिस्थिति के अधीन न

होते हुए परिस्थिति पर नियन्त्रण करते हुए, उस परिस्थिति के अनुकूल ऐसे विधान का निर्माण कर लेना कि जिससे हम उसके अधीन न हों और उसका लाभ उठा सकें । वस्तुतः इसी का नाम व्यक्तित्व है । जो जितना परिस्थिति के अधीन होता जाता है, उसका व्यक्तित्व उतना ही अविकसित है । आज मनुष्य कहता है कि यह जनता की आवाज है, इसलिये हमको माननी पड़ती है । हम यह सुनते हैं तो हमें बड़ा विचित्र लगता है । जनता को शिक्षित करना हमारा उद्देश्य है, न कि जनता से शिक्षा लेना हमारा उद्देश्य है । जो अध्यापक यह कहे कि 'हमारे लड़के कम पढ़े हुए हैं, यदि इनको १३ का पहाड़ा नहीं आता तो हम किताब से १३ का पहाड़ा ही उड़ा दें क्योंकि यह पहाड़ा मुश्किल होता है' तो यह गलत होगा क्योंकि अध्यापक का कार्य तो विद्यार्थी को पढ़ाना है । इसी प्रकार जनता का मार्गदर्शन वही कर सकता है जो जनता की माँग से आगे की कोई बात बताये; जो उसके ही द्वारा शिक्षित होने लग जाता है, वह उसका मार्गदर्शक कैसे रहेगा ? जैसे राष्ट्र के जीवन में, ऐसे ही कौटुम्बिक जीवन में, पारिवारिक जीवन में । घर में उसी का व्यक्तित्व विकसित माना जायेगा जो अपने स्पन्द के द्वारा परिस्थिति के अधीन न होकर परिस्थिति के अन्दर ऐसी स्थिति उत्पन्न करने में समर्थ हो सके कि जिस आदर्श को वह ठीक समझता है, उसकी ही तरफ सब लोग बढ़ पायें ।

विकास का मतलब हुआ—एक उद्देश्य का निर्धारण और उस उद्देश्य के प्रति अपने अन्दर पहले तीव्र स्पन्द उत्पन्न करना,

जिसके द्वारा स्वयं भी परिस्थिति पर नियंत्रण कर सकें और दूसरों को भी परिस्थिति से बचने के लिये सामर्थ्य दे सकें । उद्देश्य भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । घर में ही उद्देश्य अलग-अलग हैं । पत्नी का उद्देश्य होता है कि किस प्रकार घर में बढ़िया से बढ़िया भोजन बनाये । यहाँ घरवाली की बात करते हैं । आजकल पत्नी और बीबी दो हो गयीं हैं । बीबी वह जो बाहर के विकास में प्रवृत्ति करे; घर के भोजन का उसे पता ही नहीं है, लेकिन यह पता है कि किस थियेटर में कौन-सा बाइस्कोप चल रहा है । अथवा किस जगह सस्ती साड़ियाँ बिक रही हैं, किस जगह गहनों का क्या दाम है, इसी में जो व्यस्त है । उसे हम घरवाली नहीं कह सकते, बाहर वाली कहते हैं । घरवाली का उद्देश्य होगा कि घर की व्यवस्था किस प्रकार अच्छी हो, भोजन आदि किस प्रकार स्वादिष्ट बने । उसके विकास का अर्थ होगा कि परिस्थिति पर उसका नियंत्रण रहे, अनुकूल प्रकार के स्पन्दों को उत्पन्न करे । नहीं तो, किसी डाक्टर ने कहा कि अण्डा खिलाने से बच्चा मजबूत होगा; जिस घरवाली का व्यक्तित्व विकसित नहीं, वह अण्डा खिलाने लगेगी, लेकिन जिसका व्यक्तित्व विकसित होगा, वह कहेगी कि पनीर में भी उतनी ही ताकत है । वह और दस चीजों का पता लगायेगी । लेकिन उसी प्रकार के स्पन्द को वहाँ देगी जैसा वह चाहती है । आदमी का विकास का दृष्टिकोण दूसरा हो सकता है । घर में समृद्धि कैसे आ सकती है, उसके अनुकूल ही वह बाह्य सारे क्रियाकलापों को ढाल लेगा । ब्राह्मणों का उद्देश्य होगा अधिक से अधिक विद्या

कैसे प्राप्त करें । क्षत्रियों का दृष्टिकोण होगा कि कितना अधिक सुन्दर शासन कर सकें । वैश्यों का उद्देश्य होगा कि किस प्रकार राष्ट्र का धन बढ़ा सकें । भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं, उनके अनुसार ही बाह्य क्रियाओं में भेद होगा, लेकिन सबमें यह नियम अक्षुण्ण रहेगा कि जिस दृष्टिकोण को लेकर चला है उसका ही तीव्र स्पन्द उसके अन्दर होगा और उसे ही वह अपने चारों तरफ फैला सकेगा । यह व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के विकास का दृष्टिकोण हुआ ।

अगला प्रश्न हो सकता है कि क्या समग्र मानवता का भी कोई उद्देश्य होगा ? वह भी होगा । जैसा हमने पहले बताया कि घर में पत्नी की एक विकसित अवस्था या ब्राह्मण की विकसित अवस्था, क्योंकि ये समाज के पहले समूह हैं । उनकी अपेक्षा बड़े समूह अर्थात् समग्र देश के विकास का दृष्टिकोण हुआ कि समग्र नागरिक किस उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हों ? जैसे भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों का मूल उद्देश्य तप और स्वाध्याय है । महर्षि वाल्मीकि ने रामायण का प्रारम्भ ही इसी को लेकर किया । हमारे समग्र भारतवर्ष के चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जो हों, सबका दृष्टिकोण तप का रहा है । तप का मतलब है इच्छापूर्वक कष्ट सहना । जबर्दस्ती तो सब ही कष्ट सहते हैं । बहुत बार लोग कहते हैं कि जिस दिन खाने को नहीं मिलता, उस दिन व्रत है ! लेकिन जिस दिन भोजन की सम्पूर्ण

सामग्री उपस्थित हो, खा सकते हो, उस दिन यदि एकादशी का व्रत है तो तप है । एकादशी को हमारे यहाँ सीधा निकालने की प्रथा है । सामर्थ्य है, तभी तो आटा, दाल इत्यादि बाहर दे रहे हो । यह इच्छापूर्वक तप है ।

ब्राह्मण की तपस्यायें प्रसिद्ध ही हैं कि उनका तप का कैसा दृष्टिकोण होता था । प्राचीन भारत में काश्मीर में एक प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं जिन्होंने व्याकरण पर बड़े-बड़े ग्रन्थों का निर्माण किया है । एक बार काशी के पण्डित काश्मीर पहुँचे । उस समय ललितादित्य वहाँ राज्य कर रहा था । उन्होंने काशी के पण्डितों का बड़ा स्वागत किया और उन्हें चारों तरफ घुमाया । अंत में, उन पण्डितों से राजा ने पूछा, "और कोई इच्छा हो तो कहिये ।" पण्डितों ने कहा—"राजन् ! आपने सब कुछ दिखाया लेकिन आपेक राज्य में बड़े भारी विद्वान् कैयट रहते हैं, उनके दर्शनों की इच्छा है ।" राजा ने कहा कि "यह नाम तो मैंने अब तक नहीं सुना ।" लोगों से कहा कि उस विद्वान् का पता लगाओ । लोगों ने सोचा कि वह किसी बड़े घर में मिलेगा क्योंकि बड़े घरों में पण्डित आते रहते हैं । लेकिन बहुत ढूंढने पर भी कैयट कहीं नहीं मिले । अंत में छोटी-छोटी जगहों में ढूंढना शुरू किया । इस प्रकार ढूँढते हुए कैयट एक छोटी-सी झोपड़ी में बैठे हुए मिले । पण्डितों ने जाकर देखा कि फूस की छाई हुई वह झोपड़ी है और गोबर से लीपा हुआ फर्श है, वहीं एक चटाई पर बैठकर कैयट लेखन कार्य करते थे । पण्डितों ने

राजा से कहा कि "तुम्हारे राज्य में कैयट जैसे विद्वान् अर्थाभाव में रहते हैं, यह शोभा नहीं देता ।" ललितादित्य ने कहा कि "मुझे पता नहीं था लेकिन अब सारा इन्तजाम कर दूँगा ।" मन्त्रियों ने कैयट से कहा कि "कुछ सोना, चाँदी इत्यादि चाहिये तो ले लो ।" उन्होंने कहा कि "मुझे किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है ।" अन्त में ललितादित्य खुद आये और प्रार्थना की कि "कुछ ले लो क्योंकि आप इस प्रकार रहते हैं तो हमारी बड़ी बदनामी होती है कि इतने बड़े राजा के राज्य में आप जेसे विद्वान् ऐसे रहते हैं ।" यह सुनते ही कैयट ने अपनी पत्नी से कहा कि "आधा घड़ा भरा हुआ आटा ले लो और यहाँ से कहीं और चलो । अपने किसी और राज्य में रहेंगे ताकि यहाँ के राजा की बदनामी न हो । आटे की आधी मटकी ही काफी है क्योंकि ज्यादा होगा तो चींटियाँ हो जायेंगी ।" फिर राजा ने प्रार्थना की "आप यहीं बने रहें ।" यह ब्राह्मण की तपस्या का रूप है ।

क्षत्रिय की तपस्या यह थी कि सारे भोगों के उपलब्ध होने काल में भी जब समझते थे कि युवराज अब योग्य हो गया है, तभी वानप्रस्थ के लिये तैयार हो जाते थे यह सोचकर कि वृद्धावस्था आ गई है, अब ऐश्वर्य भोग में पड़े रहना अच्छा नहीं । इतना ही नहीं, हमारे यहाँ के राजा राज्य के धन से अपने ऊपर कुछ खर्च नहीं करते थे । यह बात शायद बहुत से लोगों को पता नहीं होगी । उसका प्रभाव इतना ज्यादा था कि शुरू-शुरू में मुसलमान

शासक खिल्जी, तुगलक आदि भी राज्य का धन अपने ऊपर खर्च नहीं करते थे । टोपी आदि सीकर गुजारा करते थे । आप सब लोगों को पता ही है कि सीता कहाँ पैदा हुई थीं ? जनक जहाँ खेती करने गये थे, वहाँ हल की नोक लगने से घड़े से उत्पन्न हुई । बुद्ध कहाँ पैदा हुए ? शुद्धोधन खेती कर रहे थे और माया उनके लिये भोजन लेकर जा रही थीं । रास्ते में ही पुत्र उत्पन्न हुआ । राज्य करते हुए भी राज्य के धन का उपभोग करने की दृष्टि नहीं थी । उस भारतवर्ष की आज के भारत से तुलना करो कि क्या भारतवर्ष आज स्वतंत्र हुआ है ? आज हमारे राजा की सुरक्षा पर अधिक से अधिक खर्च होता है । उनके चलने-फिरने पर एक-एक लाख रुपया खर्च हो जाता है, वे कमाकर खायें, यह कल्पना भी नहीं कर सकते ।

वैश्य की तपस्या यह थी कि सब कुछ पास होते हुए भी बड़े से बड़े सेठ की धोती में भी कारी लगी होती थी । उनका आजकल का जैसा जीवनस्तर (स्टेण्डर्ड ऑफ लिविंग) नहीं था, लेकिन सत्कार्य में ज्यादा से ज्यादा खर्च करते थे । धर्मशाला, कुयें, बावड़ी इत्यादि में खूब धन लगाते थे । धन था, लेकिन इच्छापूर्वक त्याग था । इसी प्रकार शूद्र सारे कार्यों को करते हुए भी यह नहीं सोचता था कि "मैं इसके द्वारा अपना ही अधिक से अधिक लाभ करूँ", यह दृष्टिकोण ही नहीं था । पाकिस्तान बनने के बाद भी जब बड़े-बड़े लोग यहाँ आये तो उनका धन खत्म हो गया था और उन्होंने अपने नौकरों से कहा

कि "तुम कहीं और नौकरी कर लो, अब हम कहाँ से खिलायेंगे ।" उन नौकरों ने कहा कि "इतने साल तक आपकी नौकरी की है और आपने हमें खिलाया है । अब हम कमायेंगे और आपको खिलायेंगे ।" ऐसे कई नौकर हैं जिन्होंने कमा कर वृद्धावस्था में अपने मालिकों की सहायता की । सारे भारतवर्ष की दृष्टि लो तो तप एक प्रधान चीज है ।

स्वाध्याय अर्थात् अपने शास्त्रों का अधिक से अधिक विचार करना । आत्मा का विचार करना और जिस कार्य को हम कर रहे हैं, उस कार्य की पूर्णता के ऊपर अधिक से अधिक गवेषणा करना, ये दोनों बातें स्वाध्याय के अंतःपाती हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्वाध्याय अलग-अलग होगा लेकिन देखोगे कि उन सबके अन्दर अपने स्वरूप का विचार अवश्य होगा । शास्त्रों का अवलोकन अवश्य होगा और जिस कार्य को कर रहे हैं, उस कार्य में अधिक से अधिक सफलता किस प्रकार प्राप्त करें, इस प्रकार की प्रवृत्ति अवश्य होगी । इन दो चीजों पर भारतवर्ष की संस्कृति का आधार बनाया गया । समग्र भारतवर्ष में विकास का दृष्टिकोण यह रहा है । यदि दस वर्षों में तप और स्वाध्याय बढ़ा है तो उन्नति हुई और तप की भावना में कमी और भोगों की भावना बढ़ी है, ज्ञान की तरफ से दृष्टि हटी है, आत्मा की तरफ से दृष्टि हटी है, तो अवनति हुई है । भारत की दृष्टि से विकास का विचार करें तो यह दृष्टिकोण है ।

यदि समग्र मानवता की दृष्टि से विकास का विचार करो तो जिस कार्य के द्वारा समग्र मानवता सुखी हो वही विकास है। यहाँ 'समग्र' शब्द के ऊपर ज़ोर है क्योंकि सुख समग्र भी होता है और टुकड़े वाला भी होता है। टुकड़े वाला सुख वह है कि जिसको हम भोगें तो दूसरे दु:खी हो जायें; और जिस सुख को भोगने से हम सुखी हों तो दूसरे सब व्यक्ति भी उस सुख के द्वारा लाभान्वित हों, उसे समग्र सुख कहेंगे। जितना-जितना हम दूसरे के हिस्से को तोड़ते हैं, जितना-जितना हमारा दृष्टिकोण इस प्रकार का बनता जाता है कि 'इसके द्वारा हमारा लाभ हो, दूसरे का चाहे कुछ भी हो,' उतना वह समग्र सुख का दृष्टिकोण नहीं है। एक मोटा दृष्टांत देते हैं। आज से तीस साल पहले सन् १९४१ में कलकत्ते के अन्दर अमरीका वालों के कुछ ट्रक आये जिनमें से डीजल का धुआँ निकलता था। अब तो आप लोग उस धुएँ के अभ्यस्त हो गये हैं! डाक्टरों ने उसी समय कहा था कि यह स्वास्थ्य के लिए हानिकर चीज है। उस समय कलकत्ते में बहुत से लोगों ने आन्दोलन किया था कि यह बंद हो जाना चाहिये और खूब हल्ला मचाकर शहर में उनका चलना बंद कराया गया। शहर के बाहर-बाहर से एक सड़क बनाई गई ताकि वे ट्रक उधर से आयें-जायें और शहर के अन्दर से होकर न निकलें क्योंकि लोगों का स्वास्थ्य इससे खराब होता है। आज भी लोग जानते हैं कि इससे स्वास्थ्य खराब होता है लेकिन सभी कहते हैं कि 'सरकार की बसें हैं, फायदा होना चाहिये। जनता का स्वास्थ्य खराब हो तो उसकी जिम्मेदारी हमारी नहीं है।'

आज समग्र सुख का दृष्टिकोण नहीं रहा । यदि हम विचार करें कि हमारे इस कार्य से दूसरे लोगों की अधिक हानि हो रही है, हमने कुछ पैसा जरूर बचा लिया लेकिन दूसरे के सुख का विचार नहीं किया, तो दृष्टिकोण बदल सकता है । हम अर्बुदाचल (आबू) से दिल्ली आने पर जब साँस लेते हैं तो ऐसा लगता है कि पूरी साँस नहीं आ रही है क्योंकि यहाँ की वायु में प्राणदायिनी शक्ति (ऑक्सीजन) इतनी कम है कि बहुत जोर से साँस खींचनी पड़ती है । जब हमसे कोई कहता है कि तबियत खराब है तो हम इस बात पर अधिक विचार नहीं करते हैं क्योंकि दिल्ली में रहकर बीमार न हों, यह ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि कोयले की खान में रहकर कपड़े काले न हों । धन्य हैं वे लोग जो ऐसी हवा में रहकर और ऐसे पानी को पीकर फिर भी जिन्दा रहते हैं ! अस्वस्थ रहते हैं, इसका आश्चर्य नहीं है, जीवित रहते हैं यह बड़ी आश्चर्यजनक घटना है । ऐसी दशा इसलिये कि इन सब चीजों में समग्र दृष्टि नहीं है । समग्र दृष्टि का विचार होता तो हम विचार करते कि हमारे प्रत्येक कार्य से दूसरों का सुख बढ़ रहा है या दु:ख बढ़ रहा है । इसलिये, जब मानवता की दृष्टि से विचार करते हैं तो समग्र सुख का दृष्टिकोण आता है । मानव का दृष्टिकोण भारतीय होने के नाते लगेगा । ब्राह्मण का दृष्टिकोण तो परिवार के अन्दर भी ब्राह्मण होने के नाते लगेगा । उत्तरोत्तर विकास का दृष्टिकोण अधराधर पर लगता जायेगा, इसमें कुछ विशेष कहना नहीं है । लेकिन यहाँ कह रहे हैं कि इस

प्रकार का दृष्टिकोण जब सामने रहेगा, तभी हम कह सकेंगे कि हमारा विकास हो रहा है या हम पिछड़ रहे हैं । यह व्यक्तित्व और व्यक्तित्व का विकास है ।

अगला प्रश्न इसके साथ सम्बन्धित है कि व्यक्ति समाज का अंग है, व्यक्ति अपने विकास में कितना स्वतन्त्र है और कितना समाज के परतंत्र है ? यह प्रश्न विकास के साथ जुड़ा हुआ है । इस समय विश्व में दो प्रकार की विचारधारायें हैं । एक तो यह कि व्यक्ति को स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता है, समाज का इसमें कुछ लेना-देना नहीं है । इस प्रकार के कुछ विचारक और उनके ऊपर आधारित कुछ राष्ट्रों का संविधान है जो यह मानकर चलते हैं कि व्यक्ति को स्वतंत्रता दो, समाज उस व्यक्ति का यत्किंचित् नियंत्रण करे और वस्तुत: बिल्कुल नियंत्रण न करे तो और भी अच्छा है । दूसरा दृष्टिकोण कुछ अन्य देशों में है जो कहते हैं कि व्यक्ति कुछ नहीं है, बल्कि समाज के हाथ की कठपुतली है, समाज का खिलौना है । इसलिय समाज को ठीक प्रकार बाँध देंगे और व्यक्ति की स्वतंत्रता शून्य तक ले आयेंगे । जहाँ एक विचारधारा व्यक्ति पर समाज की स्वतन्त्रता को शून्य करना चाहती है, वहाँ दूसरी विचारधारा व्यक्ति की स्वतंत्रता को शून्य करना चाहती है जो कहती है कि 'व्यक्ति को स्वतंत्रता दोगे तो गड़बड़ी करेगा इसलिये व्यक्ति की स्वतंत्रता को खत्म कर दो । वह बड़ी मशीन का पुर्जामात्र रह जाये, जैसे मशीन के पुर्जे एक दूसरे के साथ परतंत्र होकर चलते हैं, वैसे ही व्यक्ति के समग्र व्यवहार चलें ।'

वैदिकों ने इस पर बड़ा सूक्ष्म विचार किया । उन्होंने अति दीर्घ दृष्टि और अनुभव के आधार पर देखा कि ये दोनों बातें सच्ची नहीं हैं । व्यक्ति को स्वतंत्र करना सम्भव नहीं है क्योंकि व्यक्ति समाज का अंग है । चूँकि व्यक्ति समाज का अंग है, इसलिये समाज से व्यक्ति प्रभावित न हो, यह असम्भव है । हो सकता है कि कोई एक-आध व्यक्ति ऐसा भी हो जिसने अपना आन्तरिक विकास इतना पूर्ण कर लिया हो कि वह समाज से अप्रभावित, अस्पृष्ट रहे, ऐसे कुछ व्यक्ति हो सकते हैं, परन्तु सभी सामान्य व्यक्तियों पर यह नियम लागू नहीं होगा । यह एक दृष्टि है ।

दूसरी तरफ उन्होंने देखा कि समाज क्या चीज है ? कई व्यक्तियों के मिलने का नाम ही समाज है । इसलिये यदि व्यक्तियों को निकाल दो तो क्या समाज नाम की कोई चीज रह जायेगी ? व्यक्तियों के इकट्ठा होने से समाज बनने पर भी क्या प्रत्येक व्यक्ति समाप्त हो जाता है ? चार आदमी बैठें, तो ऐसा तो नहीं कि चारों मिलकर एक हो जायें ! जैसे सोने के चार टुकड़े गलने पर एक पिण्ड हो जाता है; इसी प्रकार चार आदमियों का कोई संगठन बनाओ तो ऐसा तो नहीं कि चारों गलकर कोई पाँचावाँ तैयार हो जाता हो । जिस समय समाज में व्यक्ति परतंत्र है, उस समय भी वह अलग ही रहता है, उसकी स्वतंत्रता जाती नहीं । इसलिये समाज के अन्दर प्रत्येक व्यक्ति अपना प्रभाव डाल रहा है । इसलिये व्यक्तियों को छोड़कर समाज की सत्ता नहीं । समाज-व्यक्ति दोनों एक दूसरे

से सिद्ध होते हैं । इसके लिये शास्त्रकारों ने 'अयुतसिद्धावयव' शब्द रखा है । वे कहते हैं कि समाज के बिना व्यक्ति की और व्यक्ति के बिना समाज की सिद्धि नहीं । इसलिये दोनों मिलकर एक संग्रथित तत्त्व है । न व्यक्ति और न समाज पूर्ण स्वतंत्र है और न पूर्ण परतंत्र । दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया का नाम व्यवहार है ।

व्यक्ति को ही विकसित करना पड़ेगा और व्यक्तियों के समुदाय को ही विकसित करना पड़ेगा—इन दोनों विचारधाराओं के मध्य जो दृष्टिकोण है उसमें हमने एक आदर्श सामने रखा । हमारा आदर्श क्या है ? एक में व्यक्ति को स्वतंत्रता है, समाज का कुछ विचार नहीं; दूसरे में समाज इतना प्रभाव वाला है कि व्यक्ति शून्य है; किन्तु हमारा आदर्श है कि व्यक्ति अपने आपको समाज के साथ इतना समन्वित कर ले कि वह जो कार्य करे, सारे समाज की दृष्टि से करे । एक-एक व्यष्टि की दृष्टि से अथवा एक टुकड़े की दृष्टि से कभी कोई भाव न आये । इतनी इच्छा भी न करे कि हम यह कार्य अपने लिये करें । आगरे में एक बहुत बड़े व्यक्ति थे। दो साल पहले उनका शरीर शान्त हो गया । उनकी आदत थी—सर्दी में रात को एक कम्बल ओढ़कर सो रहे हैं, माघ का महीना है । ठण्ड ज्यादा लगी । ठण्ड ज्यादा लगने के साथ ही नौकर को आवाज देते थे कि 'घोड़ा गाड़ी तैयार करो ।' पुराने जमाने में मोटरें ज्यादा नहीं होती थीं, बाद में मोटर आ भी गईं तो वे उस पर बैठे नहीं । रास्ते में जहाँ-जहाँ उन्हें बिना कम्बल के सोया

हुआ आदमी दिखाई देता था, उस पर एक कम्बल डालते जाते थे । इस प्रकार पचास-साठ कम्बल बाँट कर घर वापस आ जाते थे और किसी सोने वाले को यह पता भी नहीं चलता था कि कौन कम्बल डाल गया । घर वापिस आकर खुद दूसरा कम्बल लेते थे । उनका कहना था कि 'मैं एक कमरे में सोकर एक कम्बल से अपनी ठण्ड नहीं मिटा सकता तो पटरी पर सोने वाला बिना कम्बल के कैसे अपनी ठण्ड मिटा सकेगा ? इसलिये पहले उसकी ठण्डक दूर करें, तब अपने लिये दूसरा कम्बल लें ।' यह व्यक्ति की दृष्टि है जहाँ व्यक्ति समाज के लिये सोचता है । समाज के साथ उसकी इस प्रकार आत्मसात्ता हुई है । जिस प्रकार, घर में माता-पिता को ठण्ड लग रही है तो सबसे पहले एक दम अपनी ओर रजाई खींचने से पहले स्वाभाविक ही बच्चे की तरफ देखते हैं कि इस पर रजाई है या नहीं । ऐसा नहीं होता कि बच्चे की रजाई भी छीनकर ओढ़ लें ! क्योंकि व्यष्टि बच्चे के साथ वहाँ आत्मसात्ता का भाव है । हमारा जो आदर्श पुरुष है, आदर्श दृष्टिकोण है, वह यह है कि व्यक्ति में समाज के साथ समग्र दृष्टि का अवबोध हो जाये । उपनिषदों में आता है कि जो सबके साथ आत्मदृष्टि रखता है और सबको अपनी आत्मा में देखता है, वही व्यक्ति उस तत्त्वनिष्ठा को प्राप्त किये हुए है । यह हमारी व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और समाज का पूर्ण विकसित रूप है ।

तीन बातें बताईं—व्यक्ति वह है जो बाहर अभिव्यक्त करता है, यही उसका व्यक्तित्व है । अन्दर क्या है ?—इस दृष्टि से वह

बाहर की क्रियाओं का नियंत्रण अवश्य करता है, लेकिन व्यक्तित्व पर विचार करने पर कहना पड़ेगा कि जो उसका अभिव्यक्तीकरण है, जो उसका बाहर प्रकट होना है, वही वस्तुतः उसका व्यक्तित्व है । व्यक्तित्व उतना पूर्ण होगा जितना अन्दर और बाहर के आचार में एकरूपता होगी, जैसा अन्दर, वैसा बाहर । जितनी-जितनी यह एकरूपता होगी, उतना-उतना व्यक्तित्व पूर्ण माना जायेगा और जितना-जितना अन्दर-बाहर भेद होता जायेगा, उतना-उतना व्यक्तित्व अपूर्ण माना जायेगा । बाहर और अन्दर का भेद अपने अन्दर भी तनाव पैदा करता है, अपने जीवन में भी शान्ति नहीं लेने देता । जब अपने जीवन में ही शान्ति नहीं होगी तो आसपास के व्यक्तियों को कैसे शान्त कर सकेगा ? जो स्वयं दुःखी है वह दूसरों को सुखी क्या करेगा ? घर से इमरती खाकर खुश होकर चले हैं और किसी दुःखी के घर पहुँच गये तो उसके चित्त को उदास देखकर अपना चित्त भी उदास हो जाता है; लेकिन ऐसे व्यक्ति के साथ मिले जो प्रसन्न है, चाहे घर से दाल भात ही खकर चले हो तो थोड़ी देर उससे बात करके अपना मन हलका हो जाता है । जो स्वयं दुःखी है, वह दूसरे को सुखी नहीं कर सकता । जब हम अन्दर और बाहर दोनों में भेद बनायेंगे, तब हमारे अन्दर तनाव रहेगा कि कोई हमारी वास्तविकता को जान न जाये । जितना तनाव बढ़ेगा, हम दुःखी होंगे । ऐसा व्यक्तित्व पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पायेगा ।

जब तक अपने सामने कोई आदर्श न रहे कि किस तरफ जा रहे हैं, तब तक हमारे पास विकास नापने वाला कोई धागा नहीं कि जिससे जान सकें कि कितनी दूर आ गये । आदर्श छोटे समुदाय का भी हो सकता है । परिवार छोटा केन्द्र है । वहाँ से लेकर सम्पूर्ण मानवता की दृष्टि संभव है । इन सबमें भिन्न-भिन्न मापदण्डों से पता लग सकता है कि विकास की दिशा क्या है ? विकास की दिशा में मतभेद मान सकते हैं। एक व्यक्ति जिसे विकास समझता है, दूसरा न समझे यह हो सकता है । लेकिन प्रत्येक को बताना पड़ेगा कि उसका विकास का तात्पर्य क्या है और उसका आदर्श क्या है ? जहाँ समझो कि 'यहाँ पहुँचोगे तो पूर्ण हो जाओगे' उस विकास के लिये अपने अन्दर अनुकूल स्पन्दनों की तीव्रता को पूर्ण करना आवश्यक है । हम परिस्थितियों से न ढलें बल्कि परिस्थितियों को हम ढालें और दूसरे भी जितने हमारे साथ हैं, उनके चारों तरफ उनकी परिस्थितियों को मोड़ सकें ताकि वे परिस्थिति के वश में न रहकर परिस्थिति को मोड़ सकें—इस दृष्टि से विकास के द्वारा आगे बढ़ सकेंगे । इन स्पन्दनों को तीव्र किस प्रकार करें, विकास को कैसे आगे बढ़ायें ?—इस पर आगे विचार करेंगे ।

आत्मा के स्पन्द

अपने अन्दर जो है, उसको प्रकट करना व्यक्तित्व का तात्पर्य है । व्यक्त करना ही व्यक्तित्व का रूप बताया । वह व्यक्त कहाँ-कहाँ और कैसे होता है, इसके ऊपर अब विचार करेंगे । मनुष्य की कहाँ-कहाँ अभिव्यक्ति होती है, कहाँ-कहाँ वह प्रकट होता है, किन साधनों से मानों उसका प्रकाश बाहर निकलता है ?

सबसे पहला प्रकाश का केन्द्र 'मैं'—भाव (मैं—पना) है जिसे शास्त्रीय भाषा में अहंता कहते हैं । सबसे पहले आत्मा इस मैं के भाव में प्रकट होता है । इसीलिये मैं के अन्दर चेतनता (सत्ता) रहती है । बाकी जगहों में तो चेतनता के विषय में कभी संदेह भी हो जाये, लेकिन 'मैं चेतन हूँ', इस विषय में कभी संदेह नहीं होता है । कभी किसी के हृदय में यह प्रश्न नहीं उठता है कि "मैं हूँ या नहीं ?" 'अहमस्मि न वा' यह संदेह कभी भी नहीं उठता । सब चीजों के बारे में संदेह सम्भव है लेकिन 'मैं हूँ' इस विषय में कभी भी संदेह होता ही नहीं है । डाक्टर से आदमी बाकी सब बातें पूछता है लेकिन क्या कभी किसी डाक्टर से कोई यह भी कहता है कि 'डाक्टर साहब ! ज़रा यह तो बता दो कि मैं जिन्दा हूँ या मरा हुआ हूँ !' कोई नहीं पूछेगा क्योंकि पूछना ही 'मैं हूँ' बता रहा है; जब मैं पहले हूँ, तब यह प्रश्न कर रहा हूँ । इसीलिये वेदांत शास्त्र ने परमात्मा का केन्द्र इस 'मैं' को बताया ।

संसार में जब कोई कहता है कि 'मैं ईश्वर को नहीं मानता' तो उससे झगड़ा नहीं करने लग जाना चाहिये कि ईश्वर है, वरन् उससे पूछना चाहिए कि वह कौनसा ईश्वर है जिसको तुम नहीं मानते ? क्योंकि ईश्वर एक ऐसी चीज़ है जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, जिसे कह सकते हैं कि साक्षात् इन्द्रियों के द्वारा जिसका अनुभव नहीं होता है । इसलिये यदि कोई कहता है कि 'मैं ईश्वर को नहीं मानता' तो एक बात निश्चित है कि उसने ईश्वर को जाना नहीं है, जान गया होता तो 'मानता नहीं हूँ' यह नहीं कहता । जिस बात को जानता ही नहीं है, उस बात के बारे में उसके मानने न मानने की कोई कीमत ही नहीं है । जैसे यदि एक डाक्टर कहता है कि 'तुम्हें निमोनिया हुआ है,' तब तो उसकी बात की कोई कीमत है, लेकिन जो डाक्टर नहीं, नर्स नहीं, जिसको चिकित्सा-शास्त्र के बारे में कुछ ज्ञान नहीं, वह कहता है कि 'मैं नहीं मानता कि इसको निमोनिया है' कोई महत्त्व नहीं । ऐसा होता है । हमारे यहाँ जब किसी की तबियत खराब हो तो घर की वृद्धा पहले ही कहती है कि 'डाक्टर ऐसे ही कहता है, इसकी बातों को मत मानना ।' हम ऐसी माताओं को जानते हैं जो डाक्टर ने कहा हो कि बच्चे को कुछ नहीं खिलाना फिर भी वे बच्चे को पूरी और आलूदम खिला देती हैं । कहो भी कि ऐसा न करो, तो कहती हैं कि डाक्टर ऐसे ही कहता है । जब उसे चिकित्सा शास्त्र का कोई ज्ञान ही नहीं है तो फिर उसके मानने-न मानने का कोई अर्थ भी नहीं है ।

इसी प्रकार जो कहता है कि मैं ईश्वर को नहीं मानता, उससे यह पूछना चाहिये कि पहले यह बता कि तेरा ईश्वर के बारे में क्या विचार है अर्थात् क्या ज्ञान है अथवा ईश्वर को तू क्या समझता है ? वह ईश्वर का लक्षण करेगा तो हम लोगों को स्वयं पता लग जायेगा कि वह तो ईश्वर का लक्षण है ही नहीं ! वेदांत शास्त्र कहता है कि ईश्वर जो है वह 'मैं हूँ' को सम्भव करता है । 'मैं हूँ' यह कहने में चेतनता का भान है, 'मैं चेतन हूँ' । मैं को चेतन बनाने वाले चीज़ ईश्वर है । इसलिये यदि कोई कहता है कि 'मैं ईश्वर को नहीं मानता' तो उसे कहना पड़ेगा कि 'मैं चेतन को नहीं मानता अर्थात् मैं जड़ हूँ ।' कोई अत्यन्त मूढ व्यक्ति भी ऐसा नहीं मानता कि 'मैं जड हूँ' ।

सबसे पहला जो उसका अभिव्यक्तीकरण है, वह मैं में है । फिर मैं आगे मन में प्रकट होता है । मन अपने आपको इन्द्रियों में अभिव्यक्त करता है । आँख के अन्दर देखने के रूप में अपने को प्रकट करता है, कान के अन्दर अपने को सुनने के रूप में प्रकट करता है । भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद दृष्टांत ही देते हैं कि यह ज्ञान कैसा है ? 'नानाछिद्रघटोदर-स्थितमहादीपप्रभाभास्वरं । ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिःस्पन्दते' जैसे दिये के ऊपर एक घड़ा रख दो तो दिया नहीं दीखता है । यदि उस घड़े के अन्दर चौकोर छेद कर दो तो उसमें से आने वाली रोशनी चौकोर दीखेगी, तिकोना छेद कर दो तो रोशनी तिकोनी दीखेगी,

घड़े में गोल छेद कर दो तो रोशनी भी गोल होगी । पुराने मकानों में कमरे में झरोखे बनाते थे, पहले इतनी खिड़कियाँ नहीं बनती थीं । उस झरोखे में से आती हुई सूर्य की किरण डण्डे जैसी लगती थी । जैसे घड़े में जैसा-जैसा छेद बना दोगे, उस घड़े में से निकलने वाला प्रकाश वैसा-वैसा दीखेगा उसी प्रकार अपने अन्दर रहने वाला ज्ञान जब आँख रूपी छेद से निकलता है तो रूप के ज्ञान वाला बन जाता है । कान रूपी छेद से निकलता है तो शब्द के ज्ञान वाला बन जाता है, नाक रूपी छेद से निकलता है तो गंध के ज्ञान वाला बन जाता है । लेकिन यह सब बनने वाला ज्ञान अपने अन्दर बन्द है । पहले उसकी चेतनता का भान अहं के अन्दर, अहं से मन के अन्दर और मन से उसका भान इन्द्रियों के अन्दर होता है ।

जैसे ज्ञानेन्द्रियाँ, ऐसे ही कर्मेन्द्रियाँ भी हैं । अर्थात् हाथ के अन्दर वही शक्ति पकड़ने वाला काम करती है । पैर के द्वारा वही शक्ति चलने का काम करती है । शक्ति एक ही है, पकड़ने और चलने की शक्ति अलग-अलग नहीं है । यदि किसी आदमी को पीलिया हो जाये और दो महीने बिछौने में पड़ा रहना पड़े तो ऐसा नहीं कि पैर कमजोर हो जाये, हाथ की शक्ति बनी रहे ! जब वह शक्ति क्षीण होगी तब हाथ-पैर इत्यादि सब इन्द्रियाँ कमज़ोर हो जायेंगी । यहाँ तक कि मनुष्य के बोलने की ताकत भी नहीं रह जाती है । ज्यादा दिनों की बीमारी के बाद यदि उसे बोलने

की ज़रूरत पड़ती है तो फुसफुसा कर बोलता है । जैसे ज्ञान-शक्ति आँख, कान, नाक, इत्यादि इन्द्रियों से बाहर निकलती है वैसे ही क्रिया-शक्ति कर्मेन्द्रियों से बाहर निकलती है । यह उसका अभिव्यक्तीकरण है ।

इन्द्रियों में प्रकट होने के बाद वह इस शरीर में प्रकट होती है । पहले इन्द्रियों में प्रकट और फिर इस शरीर में वह प्रकट होती है । इसीलिये मनुष्य के जितने-जितने अन्दर के भाव हैं, वे शरीर के ऊपर दीख जाते हैं । प्रसन्नमुख हो तो पता लग जाता है कि इस मनुष्य को प्रसन्नता है । दु:खी होता है तो दु:ख बाहर से दीख जाता है । शरीर के ऊपर वे सारी चीजें आ जाती हैं जो उसके अन्दर हैं । यहाँ तक कि ज्यादा चिन्ता करने वाले व्यक्ति के पेट में अल्सर हो जाता है, हृदयरोग हो जाता है, रक्तचाप बढ़ जाता है । ये सारे विकार शरीर में प्रकट हो जाते हैं । जैसे-जैसे उसके जीवन में शान्ति आने लगती है, वैसे-वैसे ये चीजें दूर होती जाती हैं । आज तो चिकित्सकों ने यह बात सिद्ध की है कि ९० प्रतिशत से अधिक रोग केवल मानसिक विकारों के कारण ही होते हैं और जब तक उनके मूल कारण मन की शान्ति को न प्राप्त कर लिया जाये, तब तक एक रोग दूर करो तो दूसरी जगह गठिये के रूप में प्रकट हो जाता है । घुटने में गठिया होने पर दवाई ली तो कोहनी पर वह रोग हो जाता है, कोहनी से कमर में हो जाता है । वह कोई नया रोग नहीं होता है, रोग वही है लेकिन एक जगह उसे दबा दो तो दूसरी जगह प्रकट हो जाता है । इसी

प्रकार हमारे अधिकतम रोग मन में बैठे रहते हैं और उस रोग को औषधियों के द्वारा एक प्रकार से ठीक करो तो वह रोग दूसरी जगह पैदा हो जाता है ।

अभी थोड़े दिन पहले एक पुस्तक पढ़ रहे थे । अमरीका का एक बहुत बड़ा विद्वान् डा. जोल्ड अपनी पुस्तक 'ट्रांस्पैरेण्ट सैल्फ' में लिखता है कि अधिकतर रोगी अस्पताल में आकर औषधि से ठीक नहीं होते हैं । वे इसलिये ठीक होते हैं कि अपनी पत्नी से वे थोड़े समय के लिये दूर रहते हैं । पत्नी का जो निरंतर उसके ऊपर तनाव होता है वह जरा दूर हो जाता है । और दूसरी बात उसने कही है कि जहाँ वह नौकरी या व्यापार करता है उन स्थलों से दूर होने के कारण भी उसका तनाव कम हो जाता है । मानसिक शान्ति से रोग भी दूर हो जाते हैं । जैसे पत्नी के विषय में, वैसे ही पति के विषय में, दोनों तरफ समझ लेना; पत्नी की बीमारी का कारण पति होता है । हर हालत में हमारे मन के विकार शरीर के ऊपर आते हैं और जितना शरीर के ऊपर उनके प्रकट होने में रुकावट डालोगे, उतना ही उनका प्रभाव ज्यादा खराब होता है । हमारे यहाँ पहले घर में कोई मर जाता था तो हम लोग दस दिन तक खूब रोने की छुट्टी देते थे, अन्दर के दु:ख को हम बाहर प्रकट हो जाने देते थे । मरने वाले की याद दिला-दिलाकर रुलाते थे । होता यह था कि अन्दर का दु:ख सारा का सारा बाहर शरीर स्तर तक प्रकट हो जाता

था और अन्दर एक प्रकार की शान्ति आ जाती थी, विरेचन (कैथार्सिस) की प्राप्ति हो जाती थी । इसी प्रकार हम हर्ष में खूब नाच-गा लेते थे । वह हर्ष भी हम बाहर ले आते थे, प्रकट कर देते थे । वह हर्ष और शोक हमारे अन्दर ही अन्दर घुटता नहीं था । अब विदेशियों की देखा-देखी हमने भी रोना-हँसना मिटाने का प्रयत्न किया । यदि वस्तुतः हम हृदय का शोक जीत लें और न रोयें तो बिल्कुल ठीक है । इसलिये हमारे यहाँ एक विधान किया गया है कि अग्निहोत्री यदि अपने पिता या माता को, भाई या पुत्र को भी जलाकर आता है तो उसे किसी प्रकार के शोक की प्राप्ति नहीं मानी गई । आते ही अग्निहोत्र के सारे कर्म शुरू कर देता है । 'स्नानमात्रेण शुद्ध्यति' । इसी प्रकार तंत्रों में जो पूर्ण अभिषिक्त होता है, उसके लिये भी विधान किया कि स्नान से शुद्धि हो जाती है । अग्निहोत्र या पूर्णाभिषिक्त की एक ऐसी मानसिक स्थिति आ जाती है, उसके अन्दर आध्यात्मिक उन्नति का एक ऐसा रूप आ जाता है जिसके अन्दर वह शोक और हर्ष से प्रभावित नहीं होता है । लेकिन जिसके अन्दर शोक है और बाहर से केवल जबरदस्ती प्रकट होने से रोकता है वह अन्दर ही अन्दर घुमड़ता रहेगा और उसके अन्दर अनेक विकारों को उत्पन्न कर देगा । इसलिये शास्त्रकारों ने कहा कि इसको प्रकट कर देना चाहिये ।

मन से इन्द्रियों में और इन्द्रियों से शरीर में प्रकट होता है । शरीर में बाह्य अंगों में और अन्दर भी हृदय में रक्तचाप आदि

के द्वारा व्यक्त हो जाता है । इसके आगे एक और चीज है : शरीर में प्रकट होने के बाद शरीर तक ही नहीं रहता, शरीर के बाहर उसके द्वारा एक प्रकार की शक्ति का प्रवाह निकलता है जिसे विदेशी लोग 'औरा' कहते हैं और हम लोग उसे वर्ण कहते हैं । हमारे यहाँ शास्त्रों में कहा गया है कि ब्राह्मण सफेद रंग का, क्षत्रिय लाल रंग का, वैश्य पीले रंग का और शूद्र काले रंग का होता है । प्रश्न होता है कि चाणक्य, व्यास आदि काले रंग के और शूद्र गोरे भी हुए हैं । कृष्ण और अर्जुन के क्षत्रियत्व में संदेह नहीं लेकिन वे काले थे । बलराम बिल्कुल गोरे थे । वर्ण के विषय में जो रंग की बात कही गई है, यह शरीर की चमड़ी के रंग को लेकर नहीं कही गई । हमारे शरीर से एक प्रकार के स्पन्द बाहर निकलते हैं और उन स्पन्दों का एक रंग होता है । अब तो विदेशियों ने उसके विषय में विशिष्ट यंत्रों के द्वारा जानकारी प्राप्त की है ।

चेकोस्लोवेकिया में एक विशेष कैमरा बना है जो विशेष स्पन्दों का चित्र लेता है । उसमें एक विचित्र प्रयोग किया गया । चूँकि वे साम्यवादी हैं, इसलिये जल्दी इन बातों को नहीं मानते । उस कैमरे के प्रभाव का परीक्षण करने के लिये उस देश के एक बड़े भारी वनस्पति-विशेषज्ञ दो हरे पत्ते लेकर पहुँचे और कैमरे वाले से जाकर कहा कि 'इनमें बाहर निकलने वाले वर्ण के कुछ चित्र लें ।' आने वाले बड़े विशेषज्ञ थे । कैमरा वाले सज्जन लिखते

हैं कि "मैंने दिन भर में पचास चित्र लिये । दोनों पत्ते बिल्कुल एक जैसे थे, चित्र भी एक जैसे आने चाहिये । उन्होंने कहा भी था कि दोनों पत्ते एक ही डाल से तोड़कर लाये हैं । लेकिन दोनों के चित्रों में बड़ा फर्क आया ! सोचा, कैमरे में कोई खराब होगी । बार-बार कैमरा साफ किया, यंत्र ठीक किया । अंत में सायंकाल का समय हो गया । वे वैज्ञानिक आये तो उन्हें सच्ची बात बताई कि "फोटो बहुत लिये लेकिन पता नहीं आज कैमरे में क्या खराबी हैं ? दोनों का फोटो भिन्न-भिन्न आता है जबकि आप दोनों पत्ते एक ही पेड़ की डाल से तोड़कर लाये हैं । इसलिये अगली बार आप आयेंगे तो चित्र लेकर दे दूँगा ।' उन्होंने कहा कि 'चित्र दिखाओ ।' देखकर उछल पड़े कि 'चित्र गजब का है ! यह बिल्कुल ठीक है कि एक ही पेड़ की एक डाल से दोनों पत्ते तोड़े थे लेकिन एक पत्ते के अन्दर मैंने सूची-वेधके द्वारा अमुक जहर का प्रवेश कराया था जिससे यह पत्ता चौबीस घण्टे में मर जायेगा और दूसरा पत्ता ताजा है । मैं यही परीक्षा करना चाहता था कि दोनों में कोई फर्क है या नहीं ।' इससे यह सिद्ध हो गया कि इनके बाह्य स्पन्दों का चित्र बिल्कुल ठीक है । बिल्कुल एक जैसा दीखने पर भी एक मरणोन्मुखी है और दूसरा जीवनोन्मुखी है । जब जीवित पत्ते में इतना फर्क आ जाता है तो जीवित पशु और जीवित मानव में कितना फर्क आ जायेगा इसका क्या ठिकाना ! मनुष्य के शरीर तक ही उसके स्पन्द सीमित नहीं रहते वरन् शरीर से बाहर जाते हैं ।

विचार करके देखो तो यद्यपि न्यूटन के अनेक सिद्धान्तों के बारे में आधुनिक युग में खण्डन-मण्डन चल रहा है लेकिन उसका एक सिद्धान्त ऐसा है जिसका आइंस्टाइन या मैक्सप्लान्क खण्डन नहीं कर पाये । नियम सीधा-सा है ! गरम और ठण्डी चीजें मिल जायें तो दोनों की गर्मी या सर्दी कम हो जाती है । अर्थात् जहाँ शक्ति अधिक होगी, वहाँ से कम शक्ति की ओर प्रवाह चलेगा । कोई कठिन बात नहीं है । यह नियम अभी तक अखण्ड है । अब विचार करो, तुमने आत्मा का एक स्पन्द किया । वह स्पन्द आत्मा से मैं तक प्रतीति में आया । स्पन्द भी आत्मा की एक शक्ति है । उसका स्पन्द मैं में आया । वहाँ से मन में आया, मन से इन्द्रियों में और इन्द्रियों से शरीर में आया और शरीर में आकर अंत में वह स्पन्द खत्म तो नहीं हो जायेगा, कहीं उसे निकलना पड़ेगा । इसलिये यदि सामान्य दृष्टि से देखो तो भी आत्मा से चला हुआ स्पन्द शरीर तक जाकर रुकेगा नहीं । वह उसे आगे धक्का देगा । वह स्पन्द ही वस्तुतः मनुष्य की विश्व को अपनी वास्तविक देन है ।

मनुष्य विश्व को क्या देता है ? प्रत्येक क्षण वह अपने शरीर से स्पन्द को बाहर करता है । वह अच्छा, बुरा, सामान्य जैसा भी होता है वैसा ही स्पन्द बाहर की ओर जाता है । एक बार शरीर से बाहर जाने के बाद उसके ऊपर हमारा कुछ नियंत्रण नहीं है । जब तक शरीर के अन्दर क्रिया हुई, तब तक तो यदि उसे हम किसी प्रकार से बदलना चाहें तो बदल सकते हैं । महाभारत

में एक कथा आती है कि अश्वत्थामा ने द्रौपदी के गर्भ पर प्रहार किया । उसने एक ऐसे बाण (ब्रह्मास्त्र) का संधान किया जो गर्भ के बालक को मार सके । अश्वत्थामा को मारने के लिये ब्रह्मास्त्र का प्रयोग अर्जुन ने भी किया । दो ब्रह्मास्त्रों के प्रयोग से सृष्टि नष्ट हो जाती । ऋषि लोग बीच में आये और कहा 'इससे तुम्हें क्या मिलेगा ? तुम दोनों खत्म हो जाओगे और साथ में सारी सृष्टि खत्म हो जायेगी, इससे कोई लाभ नहीं है । इसलिये ये अस्त्र हटा दो, बाकी जो करो ।' अर्जुन ने उस अस्त्र को खींच लिया, लेकिन अश्वत्थामा ने कहा 'मैं अस्त्र को वापिस नहीं खींच सकता,' और उसने इसका स्पष्ट कारण बताया कि 'मैं संयमी नहीं हूँ, अर्जुन संयमी है ।' होने को वह ब्राह्मणपुत्र था और उसे अमर होने का वरदान मिला हुआ था लेकिन वह संयमी नहीं था । गर्भस्थ शिशु को मारना असंयम की पराकाष्ठा है क्योंकि जिससे दुश्मनी हो, उसे मारो, उसके सहायक को मारो, लेकिन जो अभी पैदा नहीं हुआ, उसे क्यों मारो ? यही असंयम हुआ । अश्वत्थामा ने कहा 'मैं इसे वापिस नहीं ले सकता ।' महर्षियों ने कहा कि कुछ तो करना ही पड़ेगा । अंततः उन्होंने प्रायश्चित्त रूप से अपनी मणि निकाल कर दी, और भी प्रायश्चित्त किया । फिर जिस पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया गया था, उसे भगवान् ने अपनी अघटित-घटना-पटीयसी माया से बचाया । वही परीक्षित् हुआ । यहाँ बता रहे हैं कि अर्जुन संयमी होने के कारण अपना अस्त्र वापिस ले सका, अश्वत्थामा नहीं ले सका ।

जो अपनी शक्ति को शरीर तक प्रकट होने तक विचारपूर्वक नियंत्रण रखता है वह संयमी और जो उस पर नियंत्रण न रख सके, वह असंयमी है । संयम की प्राप्ति कराने के लिये हम लोग रोज़ आप लोगों से एक कवायद (ड्रिल) कराते हैं । रोज़ प्रातःकाल संध्या पूजा-पाठ करते समय पहले संकल्प कराते हैं । वैसे तो जो आदमी कसरत करना जानते हैं, वे जानते हैं कि फौज में रहने वाले दायें-बायें पैर चलाते हैं लेकिन बाद में बड़ा अफसर होने पर भी उसे कवायद में शामिल होना पड़ता है क्योंकि करता रहेगा तो अभ्यास बना रहेगा । यदि किसी कारण से नहीं किया तो अभ्यास छूट जायेगा । एक-दो व्यक्ति जब फौज में थे तो बड़े सुन्दर शरीर वाले थे, रोज कवायद करते थे । फिर अकस्मात् चार-पाँच साल बाद उन्हें देखा तो सोचा कि ये क्षत्रिय से सेठ कैसे बन गये क्योंकि लम्बोदर हो गये थे । पूछा-क्या हो गया ? कहने लगे-'स्वामी जी ! क्या बतायें, आजकल मेज़ पर बैठकर काम करना पड़ता है, अब फील्ड-वर्क नहीं रह गया है ।' यदि मनुष्य निरंतर अभ्यास नहीं करता तो वह चीज नहीं रहती । ऐसे ही प्रत्येक क्रिया के प्रारम्भ में आप लोगों से संकल्प करवाते हैं । वह संकल्प संयम को बताने का साधन है । संकल्प बड़ा लम्बा-चौड़ा है । श्रीमद्‌भगवतः से प्रारम्भ करके संवत्सर तक बोलते हो । लेकिन यह सारा काल को बताता है कि इस कल्प में सृष्टि का आरम्भ हुआ, तब से इस वर्ष में, इस ऋतु में, इस पखवाड़े में, इस तिथि में, इस राशि में चन्द्रमा होने पर, इस राशि में सूर्य या बृहस्पति के होने पर हम यह कार्य कर

रहे हैं । यह सारा का सारा काल का विस्तार है । दूसरी चीज देश को याद करवाते हैं अर्थात् किस जगह पर कर रहे हो ? 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे' यह सब बोलते हैं, सब देश का स्मरण है । किस भूमण्डल में, किस देश में, गंगा के उत्तर अथवा दक्षिण किनारे पर, नर्मदा के दक्षिण दिक्भाग में । जैसे आप लोग किसी लैटिच्यूड, लांगिच्यूड से देश का पता लगा लेते हैं ऐसे ही प्राचीन काल में गंगा के पूर्व में, यमुना के पश्चिम में इत्यादि से देश का पता लगा लेते थे । यह सारा का सारा वर्णन देश का है कि किस देश में यह कर्म करने जा रहे हो । तीसरी बात याद दिलाते हैं कि तुम करने वाले कौन हो ? किस गोत्र में उत्पन्न हुए ? जैसे 'कौशलगोत्रोत्पन्नोऽहं' । अथवा तुम्हारा प्रवर क्या है, तुम्हारे पिता का और तुम्हारा नाम क्या है ? फिर तुम शर्मा, वर्मा, गुप्त अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कौन हो ? इसमें करने वाले को बताया गया । चौथी चीज विनियोग बताया जाता है । 'श्रुति-स्मृति-पुराणोक्तफलप्राप्त्यर्थम्' । अर्थात् अमुक फल के लिये कर्म कर रहे हैं । संकल्प चाहे जितना भी लम्बा-चौड़ा हो लेकिन उसमें चीजें ये चार ही हैं कि किस काल में, किस देश में, करने वाला कौन और किस उद्देश्य से कर रहा है ।

यह केवल नवरात्रि या शिवरात्रि के पूजन के समय ही करो, यह मतलब नहीं है । इसके द्वारा शिक्षा तो यह दी जा रही है कि कोई भी काम करने चलो, हमेशा हर कार्य में यह

देखो कि यह काम इस काल के अनुकूल है या नहीं । जिस काल में कार्य करने जा रहे हो, यदि वह उस काल के अनुरूप नहीं है तो वह कार्य करना ठीक नहीं है । कई बार ऐसा अनुभव होता है कि पहले यदि गर्मी होती है, पंखा चला रहे होते हैं । दूसरे दिन रात भर खूब ठण्डी हवा चलती रही तो सवेरे ठण्डक होती है । फिर कोई आकर पंखा चला देता है, तो उससे कहते हैं रहने दो । तब वह कहता है कि 'कल तो चला रहे थे ।' उसे काल का ख्याल नहीं रहा । सवेरे कह दिया कि पंखा रहने दो और ११ बजे गर्मी हुई तो कहा कि 'अब पंखा चला दो ।' तब वह कहता है–'महाराज ने मना कर रखा है,' जबकि सवेरे से ११ बजे तक काल का परिवर्तन हो गया । हम अपने कार्यों में काल का विचार नहीं रखते । हर कार्य में काल का विचार आवश्यक है कि अमुक कार्य उस काल के अनुरूप है या नहीं । इससे संयम आयेगा कि यह काल इस काम को करने का है या नहीं है । फिर हम जिस देश में हैं, उस देश का विचार आवश्यक है । गरम देश में हैं लेकिन नैकटाई पहनकर और ऊपर से कोट पहनकर जून के महीने में जा रहे हैं और कहते हैं कि औपचारिक भोज (फार्मल डिनर) है । वह डिनर जान देने के लिये नहीं है ! देश का विचार आवश्यक है । कार्य करने की इच्छा होना स्वाभाविक है लेकिन देश के अनुरूप कार्य है या नहीं, इसका विचार करने से संयम आ जायेगा । आजकल औरतों के तरह-तरह के विचित्र वस्त्र निकलते जा रहे

हैं । हम नवीन वस्त्रों के विरोधी नहीं हैं लेकिन इस बात को ज़रूर चाहते हैं कि इस देश के वातावरण के अनुकूल पोशाकों का निर्माण होना चाहिये, केवल सर्द देश की नकल नहीं करनी चाहिये ।

तीसरा यह विचार, कि हम कौन हैं ? कोई कार्य हमारे करने लायक है या नहीं । हर काम हरेक आदमी के करने लायक नहीं हुआ करता । इसलिये हम पहले अपने गोत्र ऋषि को याद करते हैं; जिन्होंने हमारी कुल-परम्परा को चलाया, उन्होंने हमारे सामने क्या आदर्श रखा—इसका विचार करते हैं । संन्यासी को इसीलिये हम नारायण नाम से स्मरण करते हैं क्योंकि संन्यासी सम्प्रदाय को बद्री में भगवान् नारायण ने प्रकट किया । हमारी गुरुपरम्परा नारायण से शुरू होती है । नारायण से हमारा गोत्र-प्रवर्त्तन हुआ, उन्होंने हमारे सामने क्या आदर्श रखा ? यदि हम उस गोत्र में हैं तो उस आदर्श के विरुद्ध हमारा काम न जाये । सामान्य दृष्टि से भी आजकल जो अंग्रेजी ढंग के स्कूल-कॉलेज होते हैं, वे लोग भी अपने स्कूल का आदर्श (मोटो) रखते हैं । उसी को हम गोत्र कहा करते हैं । जो उनके यहाँ का पढ़ा हुआ होता है, वे लोग उसे 'एलम्नाई' कहते हैं । उनके सामने कोई गलत काम करे तो दूसरा कहता है कि 'अपने कॉलेज का पढ़ा हुआ है, यह क्या उल्टा काम कर रहा है ।' वैसे ही रोटेरी क्लब, लाइन्स क्लब इत्यादि का भी मोटो होता है कि हम इसके अनुसार कार्य करेंगे । इसका स्मरण इसलिये

आवश्यक है कि जिस परम्परा से हम प्रसूत हुए हैं, वहाँ पर गोत्र ऋषि ने क्या बताया । प्रवर अर्थात् उस गोत्र में उत्पन्न श्रेष्ठ व्यक्ति ने उस आचरण को किस प्रकार किया ? इसका स्मरण करने के बाद बात पिता, दादा पर आ गई । उनका स्मरण किया कि आज पिता जी होते तो मुझे यह कार्य करने देना चाहते या नहीं । यदि जीवन में यह बात याद रखो तो बहुत-सी समस्यायें हल हो जायें । पिता जी होते तो कहते कि 'यह कार्य करो' या कहते कि 'जाने दो, क्यों बुढ़ौती में मेरी दाढ़ी में भुस डालते हो !' पिता का स्मरण झट संयम करवा देता है । गोत्र, प्रवर, पिता और फिर याद करते हैं कि हमारा समाज में क्या स्थान है । मनुष्य सामाजिक जीव है जैसा कि पहले बताया । यह विचार आवश्यक है कि इस समाज में हमारा क्या स्थान है । हमारे कार्य से समाज के प्रति कोई ऐसा प्रभाव तो नहीं हो रहा है जो इस समाज में किसी प्रकार की विशृंखलता लाये । यदि इन सब चीजों को सोचोगे तो देखोगे कि संयम आने लगेगा ।

फिर उद्देश्य सामने रखना चाहिये । आजकल लोग कहते हैं कि आदमी शराब दुःख को भूलने के लिये पीता है । कई लोग कहते हैं कि ऐसी कोई बात नहीं है, ऐसे ही पी लेते हैं । 'ऐसे ही' कोई कुछ कार्य नहीं करेगा । हमारा यह सिद्धान्त है कि मनुष्य कोई कर्म करेगा, तो उसके पीछे कोई कारण अवश्य

होगा, 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते ।' इसलिये यदि शराब पीते हो तो कुछ कारण बताओ अन्यथा जो मनोवैज्ञानिक बताते हैं, यह मानना पड़ेगा । कोई कार्य करो तो उसका फल देख लो कि क्या फल होगा ? शराब पीते समय सोच लो कि 'मैं पीता हूँ तो मेरा बेटा भी पियेगा' । चिकित्सकों ने घोषणा कर रखी है कि सिगरेट पियो तो यह स्मरण रखो कि 'कैन्सर को प्राप्त करने की इच्छा से सिगरेट पीने का कर्म मैं करने जा रहा हूँ ।' यदि संकल्प में हर बार यह बोलोगे तो धीरे-धीरे सिगरेट पीना छूटने लगेगा । प्राय: कर्म करते समय हमें इसका विचार ही नहीं रहता । कई बार लोग कहते हैं कि लड़के या लड़की ने अमुक गलत काम किया । हम कहते हैं कि तुम उन्हें सिनेमा दिखाने ले जाते हो । उसमें दिखाते हैं कि कैसे दूसरे की तरफ कुदृष्टि की जाये और कैसे सफलतापूर्वक भगा ले जाया जाये, नहीं तो मर जायें । सिनेमा जाते समय संकल्प करो कि 'हम अपने पुत्र-पुत्री को इस प्रकार के दुष्कर्मों की शिक्षा देने के लिये सिनेमा दिखा रहे हैं ।' कब पता लगता है कि अमुक कर्म ठीक है या गलत है ? यदि इन चार चीजों को लेकर मनुष्य चलता है–देश, काल, मैं कौन हूँ और किस उद्देश्य से यह कर्म कर रहा हूँ, तब संयम बढ़ता जाता है और जितना-जितना मनुष्य इसका विचार छोड़ता है उतना असंयम बढ़ता है ।

मनुष्य विचार क्यों छोड़ता है ? परतंत्रता के कारण मनुष्य इन चीजों का विचार छोड़ता है । एक तो मनुष्य आसपास के वातावरण की नकल करता है । एक बात याद रखना कि नकल

करना जड का लक्षण है और नकल न करके उसके विरोध में खड़े रहना चेतन का लक्षण है । आजकल कम्प्यूटर, आटोमेटोन्स इत्यादि ऐसे यंत्र बना रहे हैं तो हम से ज्यादा अच्छी गणना कर लेते हैं, हमसे ज्यादा अच्छी प्रकर से सारे समाचारों को इकट्ठा करके एक नतीजा निकाल कर बता देते हैं । एक बार हमसे कोई पूछ रहा था कि आटोमेटोन और मनुष्य में क्या फर्क है ? फर्क यह है कि हम गलती कर सकते हैं, मशीन नहीं कर सकती ! झूठ बोलना पाप है, समाज के लिये खराब है, यह सारा समाचार दे दो लेकिन सब सुनने के बाद हम अगले ही मिनट झूठ बोलेंगे, तुम कुछ नहीं कर सकते । लेकिन आटोमेटोन में सारी सूचना भर देंगे तो वह पूछने पर सच्चा जवाब दे देगा । हमारे अन्दर अर्थात् चेतन के अन्दर यह सामर्थ्य है कि सारी बाह्य चीजों की केवल नकल नहीं करते, उन्हें समझ लेते हैं, उनका अपने ऊपर प्रभाव आता है, लेकिन उस प्रभाव को ग्रहण करने-न करने में हमारी स्वतंत्रता बनी रहती है । आज हम अधिक-अधिक परतंत्र बन रहे हैं । हरेक कहता है कि हवा ही ऐसी है । हवा के अनुसार तो पत्ते चला करते हैं, हम नहीं उड़ा करते । उक्त दृष्टि से विचार करने से चारों बिन्दुओं पर ध्यान रखकर ज्यादा-ज्यादा जोर देंगे, तब स्वतंत्रता बढ़ेगी, संयम बढ़ेगा और जितना-जितना संयम बढ़ेगा उतना-उतना शरीर के

स्पन्द बाहर आने से पहले हम उन्हें रोक लेंगे । पहले रोकना ही व्यक्तित्व के विकास का प्रथम सोपान है ।

जिसने संकल्प के द्वारा संयम प्राप्त नहीं किया, उसमें व्यक्तित्व नहीं आता । वह तो वैसे ही होता है जिसे अंग्रेजी में 'कीपिंग अप विद द जोन्सेज़'—पड़ौसी जैसा कपड़ा पहनता है, पड़ौसी का भोजन देखकर खाता है, दूसरों का मकान देखकर अपना घर बनाता है । ऐसे लोग हमेशा दूसरे को देखते हैं । और जितना-जितना यह विचार आगे जायेगा, उतना-उतना स्वातंत्र्योन्मेष बढ़ेगा, स्पन्द पर अधिकार आयेगा । व्यक्तित्व वह होता है जो किसी की नकल नहीं होता । जो दूसरे की नकल करता है, उसका व्यक्तित्व विकसित नहीं है, दबा हुआ है । छोटा बच्चा जैसे माँ-बाप करते हैं उसी को अच्छा मानता है । लड़का १५-१६ वर्ष में छोटी-छोटी चीजों में विरोध करता है । माँ कहेगी कि छह बजे घर आना तो वह बे मतलब घूमकर साढ़े छह बजे घर आयेगा । माँ-बाप नाराज़ होते हैं और शिकायत करते हैं, लेकिन हम प्रसन्न होते हैं क्योंकि उसका व्यक्तित्व आगे आ रहा है । व्यक्तित्व आगे तभी आयेगा जब कुछ चीज़ों में वह तुम्हारा विरोध करेगा । यदि उसकी शिक्षा ठीक है तो उसका व्यक्तित्व सुधार की तरफ जायेगा और शिक्षा गलत है तो उसका व्यक्तित्व बिगाड़ की तरफ जायेगा । लेकिन जब वह अपनी स्वतंत्रता सामने ला रहा है तब उसका व्यक्तित्व बन रहा है । जैसे-जैसे व्यक्तित्व

विकसित होता है, वैसे-वैसे वह दूसरे की नकल नहीं करता, दूसरे से प्रभावित नहीं रहता । व्यक्तित्व की पहली सीढ़ी संयम है। आत्मा से स्पन्द प्रारम्भ करके अहं, मन, इन्द्रिय, शरीर और शरीर से बाहर समाज के स्तर में जाता है, संयम से इसे जितना अन्दर नियंत्रित करोगे, उतना-उतना व्यक्तित्व विकसित होगा । इससे आगे की कड़ियों पर फिर विचार करेंगे ।

विकास का प्रथम केन्द्र : मैं

अपने आपको व्यक्त करने के अन्दर जो स्वातंत्र्य है वह संयम के द्वारा प्राप्त होता है । वह संयम और स्वतंत्रता किस प्रकार प्राप्त हो, उसका थोड़ा साधन बतायेंगे । पहले तो यह समझने की बात है कि दो प्रकार का प्रवाह व्यक्ति का होता है । दो तरह से चीज़ बहती है । समुद्र से जल उठकर पहाड़ की तरफ जाता है—यह उसका एक प्रवाह है । पहाड़ के ऊपर से जल समुद्र की तरफ बहता है—यह उसका दूसरा प्रवाह है । हैं दोनों ही प्रवाह । एक प्रवाह में समुद्र से जल दूर होता जाता है । जैसे-जैसे सूर्य की किरणें समुद्र के वक्ष-स्थल पर पड़ती हैं, वैसे-वैसे समुद्र से भाप बनकर जल समुद्र से दूर होता जाता है । पहले ऊपर जाता है, फिर हवा के प्रवाह से समुद्र के ऊपर से भी और दूर निकल जाता है । समुद्र से जल दूर हो रहा है—यह एक प्रवाह है । दूसरा प्रवाह है कि पहाड़ के ऊपर पानी बरस गया, वहाँ से नदी के द्वारा धीरे-धीरे नीचे की तरफ समुद्र की तरफ सरक रहा है । इस प्रकार जल का दो तरह का प्रवाह है—एक, समुद्र से दूर और दूसरा, समुद्र की ओर । किसी एक क्षण में यदि पानी को देखोगे तो पाओगे कि दोनों रास्तों में समुद्र से दूरी एक जैसी है । बम्बई से ५० मील दूर मान लो बादल उठ आया और फिर वहाँ से उठकर वह बम्बई से और अन्दर ५० मील चला गया । समुद्र से वह १०० मील दूर आ गया । दूसरी तरफ गंगा सागर से कलकत्ता करीब

१०० मील दूर है । जो बादल अभी उड़कर पहाड़ की तरफ जा रहा है वहाँ भी पानी १०० मील दूर है और जो पानी वापिस गंगा की तरफ जा रहा है वह भी १०० मील दूर है । लेकिन इन दोनों सौ मीलों में फर्क है । एक तो १०० मील से अब १२५ और १५० होगा और दूसरा १०० से ९०, ८० होगा । दो तरह का प्रवाह है—समुद्र से दूर जाने का और दूसरा समुद्र की तरफ जाने का । किसी भी काल में दूरी को देखकर यह निश्चय नहीं कर सकते अथवा यह पता नहीं लगा सकते कि इतने मील दूर है तो समुद्र से और दूर जायेगा या समुद्र की तरफ जायेगा, जब तक यह पता न लगे कि इसका बहाव किस तरफ है ।

ठीक इसी प्रकार से परमात्मा रूपी समुद्र से दूर होकर जब जीव चलता है—यह एक प्रवाह है जिसके अन्दर उसकी दूरी परमात्मा से और-और ज्यादा होती जाती है । दूसरे प्रवाह में जीव परमेश्वर की तरफ चल दिया है और हर कदम में परमेश्वर के नजदीक पहुँचता जाता है । परमेश्वर से जीव का प्रवाह दोनों तरफ चलता है—दूर होने का प्रवाह और परमात्मा से नजदीक होने का प्रवाह । किसी जीव में हो सकता है कि हमको बहुत ज्यादा आसुरी सम्पत्ति दीखे; उसमें बहुत ज्यादा काम, क्रोध, राग, द्वेष दीखते हैं तो मनुष्य तुरन्त समझता है कि यह व्यक्ति संसार की तरफ जा रहा है, किंतु यह निश्चय नहीं कह सकते, क्योंकि यदि राग, द्वेष, काम, क्रोध कम हो रहे हैं, क्षयिष्णु हैं तो वह परमात्मा की तरफ आ

जाता है क्योंकि उसके दोष हर दिन कम हो रहे हैं । दूसरी तरफ, हो सकता है कि एक व्यक्ति बाहर से बड़ा शांत दीखता है, सामान्यत: मनुष्य समझता है कि वह परमात्मा के नजदीक होगा । लेकिन कुछ वर्षों के बाद देखने में आता है कि वह अधिक-अधिक संसार के राग-द्वेष में फँस रहा है । कई बार लोगों को आश्चर्य होता है लेकिन आश्चर्य की कोई बात नहीं है । उस व्यक्ति में यद्यपि राग-द्वेष कम हैं, इसलिये लगता है कि मानो वह समुद्र के पास हो लेकिन उसका प्रवाह और दूर होने वाला है । शास्त्रों में अनेक ऐसे भक्तों की कथायें आती हैं जो लगते हैं कि अत्यन्त पतित हैं और फिर उनके अन्दर अकस्मात् परमात्मा की तरफ जाने की तीव्र गति से वृत्ति हो जाती है, ऐसा देखा जाता है । शिवरात्रि की कथा में सुनते हो कि व्याध हरिणों को मारने के लिये पेड़ पर जाकर बैठा हुआ था और एक रात में उसमें ऐसा परिवर्तन आ गया कि वह सर्वथा भगवान् के भजन में लग गया । शंका होती है कि ऐसा कैसे हो गया ? हम कई शिवरात्रि जागते हैं, पूजा भी बढ़िया तरह से करते हैं ।

एक बार बीकानेर के पास नापासर में शिवरात्रि की । एक मास्टर अगले दिन आकर कहने लगा कि 'अंतिम पूजन में मुझे तीन का नम्बर दिखाई दिया ।' हमने कहा 'भगवान् शंकर के त्रिपुण्ड्र लगा रहता है, वही दीखता होगा, और नम्बर कुछ नहीं होता ।' लेकिन एक लाटरी का नम्बर भी होता है ! वही बात उसने अपने

दोस्त से कही । उसका दोस्त वह कार्य करने वाला था । उसने उसमें तीन लम्बर लगा दिया और उसे पाँच-सात हज़ार का फायदा हो गया । वह मास्टर हमसे आकर कहने लगा कि 'आपने कहा था कि नम्बर कुछ नहीं होता, मैं लगाता तो मेरे को भी रुपया आ जाता ।' हमने कहा कि इसमें कोई तत्त्व नहीं होता । पाँच-चार दिन बाद आकर बोला कि ध्यान में आठ का नम्बर दीख रहा था । हमने कहा, 'भगवान् शंकर त्रिपुण्ड्र लगाते हैं, वह त्रिपुण्ड्र बन्द हो गया तो आठ हो गया ।' उसने फिर अपने दोस्त को बता दिया । दोस्त को विश्वास हो गया था । अबके उसे बीस हज़ार का फायदा हो गया । तीसरी बार थोड़े दिनों बाद फिर आकर कहा कि आज नौ का अंक नजर आया है । हमने कहा—'जाने दो, इस बार और छोड़ दो ।' अब उसने किसी को नहीं बताया और लगाया भी नहीं । अगले दिन फिर नौ नम्बर ही आया । उसके दो दिन बाद उसे ऐसे आदेश आ गये कि तुम मास्टर से हैडमास्टर बन गये । अब उसकी तनख्वाह बढ़ गई । हमने कहा— प्रारब्ध से प्राप्त होने वाला कहीं नहीं जाता । वह सब आसुरी वृत्ति थी । यदि तू लगाता तो दस-पाँच हज़ार मिल जाते लेकिन वह अनुचित तरीके से मिलते, दुष्कर्मों से मिलते और फिर वह जल्दी खर्च भी हो जाते । इकट्ठे दस हज़ार आयेंगे तो घरवाली हार की माँग करेगी, बेटा कहेगा कि मुझे सूट बनवा दो, छोटे-बच्चे कहेंगे कि चलने वाली मोटर खरीद दो, कुछ दोस्त पीछे पड़ जायेंगे कि एक पार्टी तो खिला ही दो । पाँच-सात दिन बाद हज़ार-दो हज़ार

मुश्किल से तुम्हारे पास रहते । मिलते तो प्रारब्ध से, लेकिन टिकते नहीं । अब भी उतना ही प्राप्त हो गया, सौ रुपये महीना बढ़ गया तो साल में १२०० हो गये, और आगे बढ़ते जायेंगे । इसलिये प्रारब्ध से जो प्राप्त होना है, वह प्रारब्ध अवश्य प्राप्त करवायेगा । लेकिन संयम से तुमने अपने को रोक लिया तो ठीक तरीके से तुमको मिल गया और खर्च भी ज्यादा नहीं हुआ तथा उन्नति का कारण बना । इसलिये संयम करने वाला नियंत्रण कर लेता है, असंयमी नियंत्रण नहीं कर पाता ।

यहाँ बता रहे थे कि व्याध ने शिवरात्रि को रात भर जागरण किया और पूजा की तो भगवान् मिल गये और अपने यहाँ कोई ध्यान से पूजा करे तो उसे तिया-आठा ही नज़र आता है, और वहीं फँस जाता है । कारण यह है कि जिसके कर्म क्षयिष्णु होते हैं तो बाहर से दीखता है कि यह अधिक राग द्वेष वाला है, संसार की तरफ जाने वाला है लेकिन उसके पाप-कर्म क्षय होने वाले हैं । जैसे दिया जब समाप्त होने वाला होता है तो वह थोड़ी देर के लिये ज़ोर से जलता है, एक तेज़ लपट उसमें से आती है और फिर बुझ जाता है । इसी प्रकार जिस व्यक्ति के पापकर्म समाप्त होने वाले होते हैं, उसमें कभी-कभी तेज़ी नज़र आती है, उससे भ्रम होता है । कर्म क्षयिष्णु भी हो सकते हैं और कर्म वर्द्धमान भी हो सकते हैं । यद्यपि इसमें लगता है कि राग-द्वेष कम हैं लेकिन धीरे-धीरे वे बढ़ रहे होते हैं । परमात्मा से जीव की दूरी तय करने

के लिये प्रवाह की तरफ ध्यान देना हमेशा जरूरी है, किस तरफ को जा रहे हैं—यह समझना बहुत जरूरी है ।

व्यक्ति का जब हम विकास करते हैं तो वस्तुतः क्या करते हैं ? साधारणतः संसार के लोग समझते हैं कि जितना-जितना मनुष्य संसार की तरफ बढ़ता है उतना-उतना उसकी वृद्धि होती है । जब लड़का शुरू-शुरू में पढ़ता है उसको अपने साथ बहुत-सी किताबें रखनी पड़ती हैं, सभी किताबों को रखना पड़ता है । धीरे-धीरे जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसके बाह्य उपकरण कम होने लगते हैं । उसको बाहर उतनी किताबें नहीं रखनी पड़तीं क्योंकि उसके मन ने उन किताबों को याद कर लिया है । अब उसको अन्दर ही अन्दर अधिक से अधिक विचार करना पड़ता है । इसी प्रकार सब चीजों में समझ लेना । जैसे-जैसे मनुष्य की सामर्थ्य, शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे उसको बाह्य उपकरण कम चाहिये, अब उसका थोड़े से उपकरणों से ही काम हो जाता है । एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ किसी किताब की जरूरत नहीं रहती । उसके अन्दर उस ईश्वर का ज्ञान इतना भर गया है, उसके बारे में उसने इतना मनन कर लिया है, समझ लिया है, कि फिर उसको उन बाह्य साधनों, बाह्य चीजों की ज़रूरत प्रायः बिलकुल नहीं रहती । गरीब आदमी कहीं जाता है तो उस बेचारे को झट पैसे की जरूरत पड़ती है और बहुत बड़ा आदमी होता है तो उसे पैसे की जरूरत नहीं पड़ती । अगर टाटा आकर इण्टरकाण्टिनेण्टल में

ठहरे और वापिस चला जाये तो कोई कहने वाला नहीं है कि पहले पैसे भरो, तब जाओ । उनका इतना कहने से कम हो जाता है कि बिल बम्बई भेज देना । गरीब कहे कि 'सामने के मकान से लाता हूँ' तो कहेंगे कि अपना बिस्तरा रख जा ! कारण यह है कि धीरे-धीरे जैसे धन की पूर्णता में बाह्य धन की ज़रूरत नहीं, विद्या की पूर्णता में बाह्य विद्या की ज़रूरत नहीं है, ऐसे ही जब तक मनुष्य के अन्दर की शक्ति प्रबल नहीं होती है तब तक उसे बाह्य साधनों की ज़रूरत पड़ती है । लेकिन जैसे-जैसे अन्दर के व्यक्तित्व का विकास होता है, वैसे-वैसे उसके लिये बाह्य साधन किसी आवश्यकता के नहीं रह जाते । वह यदि किसी की तरफ आँख से देख ले तो सामने वाले की हिम्मत नहीं पड़ेगी, चाहे उसके पास फौजें रखी हों कि वह किसी प्रकार का नुकसान करे ।

अन्दर की शक्ति का विकास ही वस्तुतः व्यक्तित्व का विकास है । जैसे-जैसे हम परमात्मा की तरफ बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे बाह्य पदार्थों की बढ़ोत्तरी की जरूरत नहीं पड़ती बल्कि आन्तरिक शक्ति ही हमारे कार्य को अधिक सफल करती जाती है । पाश्चात्य देशों ने अभी इस तत्त्व को नहीं समझा, इसलिये वे हमेशा उन्नति को बाहर की चीजों से देखते हैं । जितनी बाहर की चीजें किसी के पास हैं, उन्हीं के द्वारा वे उन्नति को नापते हैं, विकास का परिमाण जानते हैं । एक आदमी को ठीक प्रकार से शीतली प्राणायाम आता है जिससे मनुष्य के शरीर का तापमान कम हो जाता है । वह

जहाँ भी बैठा होगा तुरन्त शीतली से शरीर ठण्डा हो जायेगा । आगे उस व्यक्ति को वातानुकूलित कमरे में रहने की कोई आवश्यकता नहीं है । वातानुकूल वाला सब जगह तो उसे लेकर घूम नहीं सकता । मोटर में लगा भी लेगा लेकिन मोटर से बाहर तो निकलेगा । लेकिन शीतली के अभ्यास वाला जहाँ जायेगा वहाँ कर लेगा । जिसको भस्त्रिका का अभ्यास है, उसके शरीर में गर्मी बढ़ जाती है । उसे हीटर लेकर घूमने की ज़रूरत नहीं है । यह बता रहे हैं कि जैसे-जैसे हमारे अन्दर की शक्तियों का विकास होगा, वैसे-वैसे बाह्य परिधान की आवश्यकता कम होती जायेगी ।

भारतवर्ष में हम लोगों ने बहुत बड़ा प्रयोग करके यह निर्णय किया कि बाहर के साधनों को बढ़ाने की सीमा है और उसमें संघर्ष है । बाहर की चीजें सबको एक जैसी सुलभ नहीं हो सकतीं, इसलिये बाहर की चीजों से आपस में संघर्ष आयेगा कि 'इसके पास है, मेरे पास नहीं है' । दूसरी तरफ, आंतरिक विकास में संघर्ष नहीं आता । हमको शीतली प्राणायाम करना आता है तो तुम्हारे मन में होगा इससे सीखें । तुम्हारे मन में यह झगड़ा नहीं आयेगा कि इसका प्राणायाम करना रोक दें ! लेकिन तुम्हारे घर में वातानुकूल लगा हुआ है तो दूसरे के मन में आयेगा कि 'चोरी कर सकूँ तो करूँ, नहीं तो पत्थर मार कर तोड़ दूँ' ! अगर हमें भस्त्रिका प्राणायाम करना आता है तो तुम हमसे सीखोगे । यदि हमने हीटर लगा रखा है तो मन में आयेगा कि 'इनका हीटर खराब कर दूँ ताकि इनके

पास भी न रहे' । बाह्य पदार्थ सबको एक जैसे सुलभ नहीं हो सकते । आन्तरिक पदार्थ प्रयत्न करने वालों को सुलभ हो जायेंगे क्योंकि यह स्वयं पर निर्भर हैं । सबसे बड़ी बात तो यह है कि आंतरिक सामर्थ्य प्राप्त हो–न हो, कम–से–कम उनके कारण अन्दर द्वेष की अग्नि नहीं जलती बल्कि दूसरे के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है कि 'मैं सीख लूँ' । समाज के इस दृष्टिकोण और व्यावेहारिकता को देखकर हमारे प्राचीन महर्षियों ने इन सब प्रयोगों को करके अंत में यह निर्णय किया कि जिस व्यक्ति को जितना ज्यादा बाह्य चीज़ों पर अवलम्बन करना पड़ता है, वह उतना ही अविकसित है अर्थात् पिछड़ा हुआ है । और जो बाह्य साधनों को कम प्रयोग में लाता है, वह उतना ही अधिक विकसित और आगे बढ़ा हुआ है ।

आज पाश्चात्य चाकचिक्य में हम यह भूल गये कि यह आधारभूत विकास है, अतः जिससे हमको ठीक प्रगति मिल सके, वह हमारे हाथ से निकल गया । मेरे दोनों पैर भगवान् ने अच्छे बनाये हैं, इसलिये मैं सीधा चलता हूँ और दूसरा आदमी बेचारा एक लकड़ी को पैर में टिकाकर चलता है क्योंकि उसकी लात कटी हुई है, उसके दोनों पैर बराबर नहीं रह गये हैं, इसलिये वह सहारा लेकर चल रहा है । इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है, बिना सहारे वाला या जो सहारा लेकर चल रहा है ? बिना सहारे वाला ही श्रेष्ठ है, यही मानना पड़ेगा । इसी प्रकार जिसके पास जितने

ज्यादा साधन हैं, वह उनके बिना नहीं रह सकता, इसलिये वह बेचारा तो दया का पात्र है, वह द्वेष का पात्र नहीं है क्योंकि इन साधनों के बिना उसका गुजारा ही नहीं होता । लेकिन हमने उल्टी दृष्टि कर ली है । हम सोचते हैं कि 'इसके पास तो इतनी बड़ी लकड़ी चलने के लिये है, मेरे पास नहीं है' । यह उल्टी दृष्टि यहाँ तक हो गई है कि लोग जब अपने आपरेशन या रोगों का वर्णन करते हैं तब उसके अन्दर भी एक तरह का अभिमान होता है कि 'मेरा आपरेशन बम्बई में अमुक डाक्टर ने किया' ! दूसरा, जिसका आपरेशन हुआ ही नहीं, वह छोटा-सा मुँह कर लेता है, और जिसका हुआ है, वह कहता है कि 'मेरा पेट तो १२ इंच कटा और तीन बार कटा', मानों कोई बड़ी तरक्की की बात कर रहे हों । ऐसे ही कहते हैं 'वह इतना बड़ा डाक्टर है, उसकी दवाई की लेकिन कोई भी फर्क नहीं पड़ा ।' यह तो शरम की बात है कि शरीर गया बीता है, दवाई काम नहीं करती है । गलत दृष्टिकोण ही हमारे विकास को गलत दिशा में ले जाता है । एक स्वस्थ दृष्टिकोण बनना चाहिये कि जिसे जितने कम सहारे चाहिये, वह उतना ही आगे बढ़ा हुआ है और जिसे जितने ज्यादा सहारे चाहिये, वह उतना पिछड़ा हुआ है ।

आत्मा के, व्यक्तित्व के विकास का प्रथम केन्द्र अहं बताया था । सबसे पहले चेतन का प्रकटी भवन मैं में होता है । इसलिये जब तक मैं की शक्ति को आदमी नहीं बढ़ायेगा, तब तक विकास को प्राप्त नहीं कर पायेगा । हमने अपने मैं को इतना कमजोर

बना रखा है कि मन का यह गुलाम है । यदि मन कहता है कि 'मैं दुःखी रहूँगा' और मैं कहता हूँ कि 'मुझे दुःखी नहीं रहना' तो मन जीत जाता है और मैं हार जाता हूँ । मन दुःखी हो जाता है तो मैं भी साथ में ही दुःखी हो जाता हूँ । फिर मैं इन्द्रियों का गुलाम है । मैं कहता है कि 'इस वजन को उठा लूँगा', हाथ कहता है कि 'मैं नहीं उठा सकता' । हाथ दुःखी नहीं होता, मैं दुःखी होता है कि 'हाय ! मेरे हाथ में ताकत नहीं है' । शरीर का भी गुलाम है । मैं चाहता हूँ कि बंगाली मार्केट के पचास बढ़िया रसगुल्ले खा लूँ और सात रसगुल्ले खाते ही पेटराम कहते हैं कि आठवाँ अन्दर नहीं घुसने दूँगा ! मैं दुःखी होता है, कहता है—'जवानी में तो खाये हैं, आजकल नहीं चलते हैं, क्या बतायें ।' दूसरे व्यक्तियों का भी गुलाम है । किसी ने एक गाली दी । गाली उसने दी, दुःखी मैं हो रहा हूँ । अरे ! उसके मुँह में गंदगी आई, मेरा तो कुछ नहीं गया । लेकिन उसका भी मैं पराधीन हो गया, वह भी मुझे दुःखी कर देता है । मैं की शक्ति हमने धीरे-धीरे क्षीण कर रखी है । उसे गुलाम बना रखा है । इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि सबसे पहले व्यक्तित्व के विकास के लिये इस मैं को शक्तिमान् बनाना पड़ेगा ।

इतना याद रखना कि मैं में असली शक्ति है । वेद कहता है कि इस मैं की इतनी शक्ति है कि यह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् बनने में समर्थ है । इसकी शक्ति की कोई सीमा नहीं है । यहाँ

तक कि यह मैं शुद्ध होकर साक्षात् परब्रह्म परमात्मा बन जाता है । वेदान्त कहता है 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा अच्छी प्रकार उन्नत हो जाता है तो ब्रह्म रह जाता है । लेकिन यह संगदोष के द्वारा अपने आपको कमज़ोर कर चुका है । एक कथा आती है कि एक शेरनी के बच्चा होने वाला था । वह जंगल में शिकार के लिये गई हुई थी । वहाँ पर भेड़ों का एक बड़ा भारी समुदाय था । वहाँ वह शेरनी भेड़ को मारने के लिए कूदी तो उसी समय उसके झटके से बच्चा हो गया । गर्भिणी थी, उसमें उसको जो दर्द हुआ, उस दर्द के कारण जहाँ कूदी थी, वहाँ नहीं कूद पाई बल्कि पीछे पेड़ का ठूँठ लगा था, वह ठूँठ उसके शरीर को वेध कर निकल गया, वह वहीं मर गई । उसका बच्चा भेड़-समुदाय में घिर गया । एक भेड़ का दूसरा बच्चा दूध पी रहा था । संस्कारवशात् शेरनी का बच्चा भी दूध पीने लगा । थोड़ी देर बाद भेड़ के बच्चे आगे चले तो वह भी चला । आजकल कई बार सुनते हैं कि अस्पतालों में एक साथ गई बच्चे होते हैं और कई बार आपस में बदल जाते हैं । बदल गया तो अब किसको पता लगेगा, क्योंकि उसमें कोई फर्क नहीं है । वह बच्चा जिस वातावरण में आकर बड़ा हो जायेगा, वहाँ का उसे अभिमान रहेगा, वही कारगर हो जायेगा । धीरे-धीरे शेर का शावक बड़ा हुआ । सबको घास चरते देखा तो वह भी घास चरने लगा । वह तो पशु ही था । घर में माँ-बाप को माँस, अण्डा खाते देखते हैं तो छोटे बच्चे भी खाने लगते हैं । इसी प्रकार शेर का खाद्य

घास नहीं, लेकिन देखा-देखी वह घास खाने लगा । धीरे-धीरे काफी बड़ा हो गया, फिर भी भेड़ों के साथ इधर-उधर घूमने लगा । कभी कोई शेर भेड़ों पर आक्रमण करे तो वह भी भागे, जैसे दूसरी भेड़ें भागें ! और थोड़ा बड़ा हुआ तो एक दूसरे शेर ने आक्रमण किया, उसने देखा कि एक शेर यहाँ पर है । भेड़ों को छोड़कर वह शेर छोटे शेर से बोला कि 'शेर होकर ऐसे कहाँ घूमने लगा ?' छोटा शेर जोर से चिल्लाने लगा कि 'हाय ! यह शेर मेरे को खा जायेगा ।' शेर कहने लगा 'भले आदमी ! तू तो शेर है ।' वह बोला—'मैं तो भेड़ हूँ ।' उस बड़े शेर को बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने कहा—'देख, तेरे जितना बड़ा भेड़ों में कोई नहीं है ।' उसने कहा—'मेरी माँ मुझे दूध ज्यादा पिलाती थी, इसलिये मैं औरों से तगड़ा हो गया हूँ । हूँ तो भेड़ ही ।' शेर समझाने लगा कि 'अपना मुँह देख, किसी का मुँह ऐसा नहीं, तेरे जैसे लम्बे-लम्बे दाँत किसी के नहीं, मेरे नाखून देख और अपने पंजों के नाखून देख, इतने बड़े नाखून किसी के नहीं ।' फिर वह उसे पकड़कर नदी के किनारे ले गया और कहा कि 'अपना मुँह देख और मेरा मुँह भी देख । क्या भेड़ों से तेरा मुँह मिलता है ?' कहने लगा—'किसी भेड़ से मेरा मुँह नहीं मिला ।' बड़ा शेर कहीं से माँस का टुकड़ा ले आया और कहा—'इसे खा ।' उसने कहा—'मुझे घास खाना आता है ।' उसने झट वह माँस का टुकड़ा उसके मुँह में डाल दिया । उसे ज़रा स्वाद भी आया । अब कहा—'देख, सामने खरगोश जा रहा

हैं, कर उस पर आक्रमण ।' उसने आक्रमण किया तो उसके मन में आया कि 'सचमुच मैं तो शेर हूँ !' जवान तो था ही, अपनी गरज को सुनकर उसे और निश्चय हो गया कि 'मैं शेर हूँ' और उसका 'मैं भेड़' का ज्ञान नष्ट हो गया । यह दृष्टांत है ।

ठीक इसी प्रकार, यह आत्मा शेर की जाति का है लेकिन शरीर, मन इत्यादि इन सब बन्धनों के बीच में रहते-रहते यह अपने को इनका ही अंग समझता है, इनकी ही जाति का अपने को समझता है । इसलिये जो काम मन को करना चाहिये, वह यह करता है, मैं-मैं करता है । कभी-कभी बीच में कहता है कि 'मैं मन से अलग हूँ । मैं मन से ध्यान करने को कहता हूँ, यह नहीं करता, इसलिये अलग हूँ ।' लेकिन फिर मैं-मैं करता है । कहता है—'जब दुःख होता है तब मुझे दुःख होता ही है ।' जब मैं मन नहीं तो मैं मन से कैसे दुःखी होऊँगा ? लेकिन मैं बनने की आदत पड़ी है । किसी काल में शेर रूपी ब्रह्मवेत्ता जब उससे कहता है कि तू इनकी जाति का नहीं है, ब्रह्म की जाति का है, तब यह कहता है कि 'मैं तो बेचारा जीव हूँ, न जाने कब से जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा हूँ । कोई थोड़ा बहुत उपाय बता दो जिससे लड़का हो जाये, व्यापार में नफा हो जाये, मुकदमा जीत लूँ । बस, मेरी तो इतनी ही सामर्थ्य है । लेकिन जो इस सारे ब्रह्माण्ड को चलाने वाला परब्रह्म परमात्मा

है, मैं उसकी जाति का नहीं हूँ । मैं जीव हूँ ।' किसी तरह समझा दें तो कहता है कि 'यह बात है तो सच लेकिन हम साधारण गृहस्थियों के जीवन की कोई बात बताओ ।' हम पूछते हैं कि तू ब्रह्म है, गृहस्थ कैसे हुआ ? उसे अनेक दृष्टांतों से समझाते हैं कि तू अपने नाखून देख, अन्य भेड़ों के देख, इनमें किसी में दम नहीं है । तेरी ताकत से ही ये शरीर, मन और इन्द्रियाँ ताकत वाले हैं । इसलिये तू ताकत देने वाला है और ये ताकत लेने वाले हैं । दोनों की एक जाति कहाँ से आ गई ? उसके मन में आता है कि इस कंचन जैसे शरीर में से यदि मैं निकल जाता हूँ तो इसे निगमबोध घाट पर ले जाकर जला देना पड़ता है । कोई नहीं कहता कि 'शरीर सुन्दर है, केवल एक मैं निकला है, इसे घर में रख लो,'—ऐसे कोई नहीं रखता । दूसरी तरफ, चाहे नाक कट जाये, हाथ-पैर टूट जायें, अन्दर मैं बना है तो तुम उसे किसी तरह नुकसान नहीं पहुँचाओगे । मैं की कीमत के सामने सबकी कुछ कीमत नहीं है । हम उल्टा मैं को इन बाहर की चीजों के लिये परेशान करते हैं । इन चीजों का लाभ उठाकर हम सुखी हों तो ठीक है परन्तु मनुष्य कहता है कि 'हम बड़े दुःखी हैं ।' क्यों ? संसार चलाने के लिये दुःखी हैं । अगर दुःखी हो, तो संसार काहे के लिये चलाते हो, सुखी हो तो जरूर चलाओ । मैं को इनकी जाति का बना रखा है, इसलिये आगे नहीं बढ़ पाते ।

फिर जैसे उसे ले जाकर पानी में मुँह दिखाया वैसे ही यहाँ मुँह दिखाते हैं कि जहाँ-जहाँ तुम हो वहाँ-वहाँ आनन्द है । जहाँ संसार की कोई चीज़ नहीं है, 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूत: सुखरूपमेति' गहरी नींद में कोई पदार्थ नहीं है, वहाँ बढ़िया माल, रसगुल्ले, काला जामुन आदि कुछ नहीं मिलता, फिर भी कहते हो कि 'आज आनंद से सोये, जी हल्का हो गया' । वह आनंद किस चीज का है ? वहाँ कोई चीज़ नहीं थी, इसी बात का आनन्द है । यदि किसी चीज़ का भान वहाँ रह जाता तो आनन्द आने वाला नहीं है । यदि याद आये कि 'मैं बहुत बढ़िया मखमल के गद्दे पर सोया हूँ,' तो जब तक वह गद्दा याद रहेगा तब तक नींद का आनन्द नहीं आने वाला । इसलिये वहाँ कोई बाह्य पदार्थ नहीं है और आनन्द है । चेहरा देखकर पता लगता है, कि हमारा वास्तविक स्वरूप आनन्द है ।

फिर उसके बाद स्वाद चखाया जाता है । साधना के द्वारा उस स्वाद की प्राप्ति है । जब वह स्वाद मिल जाता है तब उसे और निश्चय हो जाता है । निर्विकल्प समाधि में उस शान्ति की प्राप्ति होती है । फिर कहते हैं कि खरगोश पर कूदो अर्थात् व्यवहार काल में अपनी इस शान्ति और व्यक्तित्व को आगे प्रकट करो । अब तक अन्दर के व्यक्तित्व को बढ़ाया । जब निश्चय हो गया कि 'मैं शेर हूँ' तब कहा कि इस खरगोश पर कूदो । उसी प्रकार, व्यवहार में कुदाकर कहते हैं कि यह व्यवहार करो । व्यवहार कराते

समय उसे जवानी और शक्ति का भान होता है कि 'ऐसा आज तक मैंने कभी नहीं किया,' क्योंकि इससे पहले हमेशा व्यवहार में भयभीत रहता था, इसलिये गुलाम होने के कारण डरता रहता था । अब पूरी तरह से होश आ गया । लेकिन यह तभी आता है जब प्रयोग करके पूरी तरह स्थिरता को प्राप्त करता है । यह नहीं समझना कि यह शक्ति नहीं आती । केवल बातों से काम नहीं होता !

जब भारत स्वतंत्र हुआ तब करिअप्पा आदि फौज के बड़े अधिकारियों को बिठाकर नेहरूजी ने भाषण दिया, कहा कि 'हम लोग आजाद तो हो गये हैं लेकिन अभी हम लोगों को फौज में बहुत ज्यादा अनुभव नहीं है, इसलिये फौज में अभी कुछ अंग्रेज अफसरों को रखे रहेंगे ।' इसी प्रकार अन्य एक-दो विभागों के लिये कहा कि बड़-बड़े अफसर अंग्रेजों को रखना पड़ेगा । उस समय थिमैया एक ऐसे व्यक्ति थे जो खड़े होकर कहने लगे कि 'मैं एक प्रश्न पूछता हूँ कि आपको शासन चलाने का कितने साल का अनुभव है, क्या आपने कहीं का राज्य चलाया है ?' नेहरूजी कहने लगे कि 'मेरे को यह अनुभव नहीं है, यह तुम्हें पता है ।' उन्होंने कहा-'फिर हम लोग २५ साल से फौज में कुछ काम तो कर रहे हैं । यदि हमारे ऊपर किसी अंग्रेज को रखना जरूरी है तो प्रधानमंत्री भी किसी अंग्रेज को बनाकर रखना चाहिये ।' नेहरूजी नाराज हो गये । यद्यपि उन फौज वालों को

अनुभव था, लेकिन हरेक व्यक्ति समझता है कि 'मेरी बुद्धि इतनी तेज़ है कि मैं कोई भी काम कर लूँगा लेकिन दूसरा जिसे अनुभव नहीं है, वह कैसे कर सकता है ?'

इसी प्रकार, मनुष्य समझता है कि मैंने अपनी बुद्धि से किसी चीज को समझ लिया तो कार्य पूरा हो गया, लेकिन जब तक कार्य रूप में उसकी पूर्णता को प्राप्त नहीं किया जायेगा, तब तक नियन्त्रण में नहीं आयेगा । व्यवहार में आगे हिम्मत बढ़ती गई, वह पूर्ण शेर होकर बढ़ता गया । वह अब तक संसार का गुलाम था, अब वह अपने को संसार का अधिपति स्वयं अनुभव करता है ।

व्यक्तित्व के विकास का प्रथम साधन बताया कि इस बात को 'मैं' में समझना पड़ेगा । वस्तुतः शरीर आदि संघात मैं नहीं, ये सब जड हैं, हम इनसे भिन्न चेतन हैं । उसके विकास के लिये सबसे पहली आवश्यकता यह है कि बार-बार मैं में यह दृष्टि करना कि मैं वस्तुतः कौन है । जब तक यह दृष्टि मैं में बार-बार नहीं की जायेगी, तब तक यह चीज़ स्थिर और दृढ नहीं होगी । 'मैं' में यह दृष्टि कैसे करें—इस पर आगे विचार करेंगे ।

व्रत

व्यक्तित्व के विकास में आवश्यकता इस बात की है कि हम ठीक प्रकार से यह समझ सकें कि हमारे अन्दर क्या सामर्थ्य और शक्ति है । यह पता लग जाने पर भी कि हमारे अन्दर क्या शक्ति और सामर्थ्य है, अनेक बार विकास न होने के कारण हम उसको अपने व्यक्तित्व में ला नहीं पाते । यह जानने पर भी कि यह शक्ति हमारे अन्दर है, वह हमारे अहं में, मन में, इन्द्रियों में और शरीर में तथा अन्य व्यवहारों में प्रकट नहीं हो पाती । इसको प्रकट करने का तरीका अब बतायेंगे । यहाँ समझने की चीज़ कम और करने की चीज़ ज्यादा होगी ।

पहली बात तो यह समझ लेनी चाहिये कि मनुष्य के ऊपर जैसे संस्कार (इम्प्रैशंस) बार-बार डाले जाते हैं—चाहे स्वयं अपने द्वारा, चाहे आस-पास के दूसरे लोगों के द्वारा—वैसा ही मनुष्य बन जाता है । गीता में भगवान् ने मनुष्य के बनने का रहस्य बताते हुए कहा 'यो यच्छ्रद्धःस एव सः', कैसे पता लगे कि मनुष्य किस चीज से बनता है ? भगवान् ने कहा कि जिसके अन्दर जिस विषय की श्रद्धा होती है, वही उसका रूप होता है । श्रद्धा का मतलब केवल किसी चीज़ पर विश्वास कर लेना या किसी चीज़ को मान लेना नहीं है । श्रद्धा शब्द में दो शब्द हैं—श्रद् और धा । 'श्रदि या धार्यते सा श्रद्धा' श्रद् मायने हृदय । हृदय के अन्दर जो चीज़ धारण कर ली जाये अर्थात् हृदय में जो चीज़ ऐसी बैठ जाये कि कोशिश करने पर भी न निकले, वही श्रद्धा कही जाती है ।

यजुर्वेद में श्रद्धा-प्राप्ति का तरीका बताया–

'व्रतेन दीक्षाम् आप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥'

भगवान ने तो गीता में केवल कहा कि जिस पर श्रद्धा वाला है वही उसका रूप है । लेकिन वह श्रद्धा कैसे प्राप्त हो ? भगवान् वेद अपने इस मंत्र में श्रद्धा को प्राप्त करने का तरीका बताता है । श्रद्धा किससे प्राप्त होती है ? पहली सीढ़ी बताई 'व्रतेन दीक्षामाप्नोति' । सबसे पहले मनुष्य व्रत करता है । व्रत का मतलब हिन्दी वाले केवल भूखा मरना समझ लेते हैं लेकिन संस्कृत में व्रत का यह अर्थ नहीं होता है । किसी भी चीज़ का वरण करके, किसी भी चीज़ को जानकर उसके ऊपर स्थित रहना, इसका नाम व्रत है । यदि व्रत का मतलब भूखे रहना हो जायेगा तो आदमी घाटे में रह जायेगा, औरतें नहीं क्योंकि औरतों का धर्म बताया 'पतिरेको व्रतं स्त्रीणां' अतः पति को भूखा रखना व्रत हो जायेगा ! व्रत का मतलब यहाँ यह है कि जिसको वरण कर लिया, उससे अतिरिक्त और कोई हृदय में पति का स्थान नहीं ले । एकादशी, सोम, मंगल इत्यादि को व्रत इसलिये कहते हैं कि आज मंगलवार के दिन नमक नहीं खायेंगे और उस निश्चय पर दृढ रहेंगे ।

मीमांसा में आचार्य कुमारिल भट्ट ने एक विचार किया है : कहते हैं कि कोई काम न करने से तो पुण्य उत्पन्न नहीं हो सकता । मैंने नमक नहीं खाया, इससे कैसे कोई शुभ फल उत्पन्न

हो जायेगा ? अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती है । अभाव (निगेशन) से कभी भी भाव (पोजिशन) पैदा नहीं हो सकता । भाव से ही भाव चीज़ उत्पन्न होगी । मोटी भाषा में समझ लो कि 'कुछ नहीं' से 'कुछ' पैदा नहीं हो सकता । कुछ से ही कुछ पैदा होगा । मैंने आज नमक नहीं खाया, इतने मात्र से भाव अर्थात् कोई अच्छा फल, पुण्य कैसे पैदा हो जायेगा ? आचार्य कुमारिल यह प्रश्न उठाकर जवाब देते हैं कि मैंने नहीं खाया, इससे पुण्य उत्पन्न नहीं होता, वरन् दिन भर अपने मन को कहता रहा कि 'आज मंगलवार है, व्रती हूँ, नहीं खाऊँगा', मन पर यह 'ब्रेक' लगाता रहा, यह भावरूप क्रिया है । 'उद्यन्तम् आदित्यं न पश्येत्' ब्रह्मचारी के लिये नियम किया कि उदय होने वाला सूर्य न देखो । हमेशा मन में यह भाव रखना पड़ेगा कि कहीं नजर न पड़ जाये । हमने एक बात देखी है : भाद्रपद के शुक्लपक्ष (चाँदना पक्ष) में चतुर्थी के दिन चन्द्रमा का दर्शन नहीं करना चाहिये । बाकी दिन कभी हमको चन्द्रमा का दर्शन नहीं होगा, पूर्णिमा हो, तो भी नहीं होता, कभी याद भी नहीं रहता, लेकिन उस चतुर्थी के दिन चन्द्रमा का दर्शन कहीं न कहीं से हो जायेगा । शुक्ला द्वितीया को चन्द्रदर्शन का विधान है पर उस दिन देखना चाहने वालों को भी कई बार नहीं दीख पाता । भाद्रपद के दिन कहते हैं कि नहीं देखना है, फिर भी कोई न कोई कारण बन जायेगा और कोई न कोई दिखा देगा ! दिन भर मन में यह बार-बार रुकावट करनी पड़ेगी कि 'मैं उदित होते सूर्य को नहीं देखूँगा,' या 'मैं आज नमक नहीं खाऊँगा,'

'मैं पति के अतिरिक्त किसी भी दूसरे पुरुष में पति की दृष्टि नहीं करूँगी' इत्यादि; इस भाव से ही भावरूप पुण्य की उत्पत्ति है, अभाव से नहीं । इसलिये व्रत का असली तात्पर्य हो गया कि बार-बार एक चीज की वृत्ति बनायें । बार-बार उस संस्कार को दृढ करना, उस संस्कार से भिन्न जो-जो चीज़ आये उसको हटाकर उसी संस्कार (इम्प्रैशन) को डालना, उसी को बार-बार करना व्रत है ।

'यो यच्छ्रद्धस्स एव सः' श्रद्धा किससे उत्पन्न होगी ? पहली चीज व्रत है । बार-बार हमको अपने मन में जो हम बनना चाहते हैं, उसके संस्कार डालने पड़ेंगे, बार-बार उसको दोहराना पड़ेगा । यह वास्तविक श्रद्धा हुई । तुम क्या चुनो—यह विषय दूसरा है लेकिन जो चुना उस चीज की बार-बार मन के ऊपर छाप लगाते जाना पड़ेगा । अब तक जो छाप पड़ चुकी है, उसकी जगह जब दूसरी छाप मजबूत हो जायेगी तब तुम वही बन जाओगे । अब तक भी जो छाप तुम्हारे ऊपर बचपन से लगती गई, वही बनते चले गये । हम लोग अपने बच्चों पर शुरू से छाप डालते हैं ।

बर्न नाम के बड़े भारी मनोवैज्ञानिक हैं, उन्होंने एक प्रायेग किया । हमारे यहाँ तो यह प्रयोग पहले से है । एक लड़का था । वह अपनी पाठशाला में बड़े उद्दण्ड कार्य करता था, दूसरों से झगड़ा करना, मार-पीट करना आदि । लेकिन वह भले घर का लड़का था । दो-तीन स्कूलों से अध्यापकों ने उसे यह कहकर निकाल दिया कि यह हमारे स्कूल के लायक नहीं है । उसका पिता बड़ा

दु:खी हो गया । वह उसको बर्न के पास ले गया और कहा कि 'इसका दिमाग कुछ ठीक करो ।' उसने कई बातों से एक यह पता लगाया कि जब वह बिल्कुल छोटा था तब उसने एक-दो बार इतने जोर से अपने पिता को लात मारी थी कि पिता को बड़ी चोट लगी थी । हँसी-हँसी में उसका नाम 'किकर' (लात मारने वाला) रख दिया । जैसे अपने भी ठिठोली में अपने बच्चों का नाम रखते हैं । वही नाम चल पड़ा । बर्न ने यह निर्णय किया कि इसके सामने यह किकर नाम है और प्रत्येक व्यक्ति का जो नाम होता है तदनुरूप वह बनना चाहता है । यह उसका एक प्रयोग था । ऐसे उसने कई प्रयोग किये ।

प्रत्येक राष्ट्र के पुराण (माइथोलोजी) में, प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास में, प्रत्येक राष्ट्र के कुटुम्ब में हर नाम के पीछे कोई न कोई स्मृति जुड़ी होती है । भीम नाम हमारे भारतवर्ष में ऐतिहासिक दृष्टि से तुरंत एक बहादुर व्यक्ति का चित्र खड़ा कर देता है । इसी प्रकार से भिन्न-भिन्न नामों के द्वारा हमारे मन में एक चित्र सामने आ जाता है । भीम बहादुर था या नहीं, इससे हमें मतलब नहीं है । कृष्ण सुन्दर थे या नहीं, इससे हमको मतलब नहीं है । लेकिन हमारी चेतना (कांश्यसनैस) में यह संस्कार दृढ है कि कृष्ण बड़े सुन्दर थे, और भीम बड़े बहादुर थे । राम बड़े पितृभक्त थे,

यह हमारी चेतना में गढ़ा हुआ है । अज्ञात रूप में प्रत्येक व्यक्ति नाम के अनुरूप, उस नाम के अनुसार अपने को ढालता रहता है । इसके पीछे सिद्धान्त वह व्रत वाला ही है क्योंकि हर बार हम जब उस बच्चे को उस नाम से बुलाते हैं तब हम तत्त्वत: कहते हैं कि 'तुम यह हो' और उसकी अन्तश्चेतना (सबकांश्यस) में यह चीज दृढ होती जाती है कि 'यह मैं हूँ', इसलिये उसके अनुरूप वह अपने को ढालता चला जाता है ।

इसीलिये हमारे यहाँ नामकरण संस्कार सोलह संस्कारों में एक बड़ा भारी संस्कार था । 'एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्' आदि से आपस्तम्ब धर्मसूत्र नियम करता है कि जन्म से ११वें दिन अमुक विधि से पिता अपने पुत्र का नामकरण करे, इसलिये कि वह नाम एक बड़ी भारी थाती होगी । उसके ऊपर उसके जीवन का बड़ा भारी निर्माण होगा । बाकी कोई शब्द ऐसा नहीं जो हमारे साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध वाला हो जाये जैसा हमारा नाम है । बाकी सब चीजें तो बाद में आयेंगी लेकिन नाम जो शुरू हुआ तो मृत्युकाल तक उसका असर पड़ता ही रहेगा ।

बर्न ने यह देखा कि इस लड़के को ये किकर कहते हैं । इसकी अंतश्चेतना में यह भाव बैठा हुआ है कि 'मैं किकर बनूँ' इसलिये साथ के बच्चों को घूँसा मारेगा, अध्यापक से लड़ाई करेगा

क्योंकि किकर जो है ! वह बच्चा अभी छोटा ही था, ज्यादा उम्र का नहीं था । बर्न ने उसके माता-पिता से कहा कि 'इसका नाम बदल दो ।' उनके पुराणों में एक बड़ा शान्त व्यक्ति हुआ है जिसका नाम सैमुअल था । बाइबिल में कथा आती है । उन्होंने उसका नाम भी सैमुअल रख दिया (सैम मायने "छोटा" भी होता है) । धीरे-धीरे साल भर में देखा गया कि उस लड़के की प्रवृत्ति बदलने लगी । दो-तीन साल में उस लड़के की प्रवृत्ति इतनी बदल गई पहले से कि पहचानने में भी नहीं आता था और कोई दवाई नहीं हुई थी । लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि केवल नाम-परिवर्तन से इतना असर हो गया । यह क्या है ? यह इस व्रत के सिद्धान्त को समझने का फल है ।

हम लोग बहुत बार इस बात को देखते हैं कि जो बहुत बड़ा लखपति सेठ बड़ा गंदा रहता है, उसका नाम कचौड़ीमल है । ऐसा नाम रखते हैं । कचौड़ीमल इस नाम का असर उस पर बना रहेगा । इसी प्रकार और तरह-तरह के निरर्थक नाम लोग रख देते हैं । नाम का असर तो स्थायी होता है । लेकिन अपने बच्चों को जिस प्रकार से हम सम्बोधित करते हैं, जिस प्रकार उन्हें आवाज़ देते हैं, उसका भी असर पड़ेगा । जैसे, हम अपने बच्चों को हमेशा कहेंगे—अरे बुद्धूराम । बहुत-से माता-पिता की आदत

होती है और वे खुश होते हैं कि हम अपने लड़के से प्यार कर रहे हैं । उपनिषदों में देखते हैं कि गुरु या पिता अपने शिष्य या पुत्र को बुलाता है तो कहता है–'हे सौम्य, हे तात !'

भगवान् कृष्ण ने सारे युद्ध की तैयारी की और दोनों तरफ से सबसे बड़ा योद्धा अर्जुन ही था और उस अर्जुन ने ठीक युद्ध का शंख फूँकने के बाद हथियार रख दिये 'एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।' और 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥' 'अब आपको जो करना हो कर लो, मेरे को लड़ाई नहीं करनी है ।' जैसे कोई लड़की वाला शादी करने के लिये तैयार न हो रहा हो और कोई बीच-बिचाव करके लड़की वाले को तैयार कर ले और लड़की वाला मान ले । बारात सजाकर जब लड़के वाला और बीच-बिचौअल करने वाला पहुँचे और मिलनी हो रही हो, एक-दूसरे को रुपयों का आदान-प्रदान हो रहा हो, उस समय लड़का घोषणा कर दे कि 'मुझे ब्याह नहीं करना है ।' बीच-बिचौअल करने वाले के मन में आयेगा कि 'मेरी नाक कटाने के लिये तूने यह किया ! ब्याह नहीं करना था तो पहले कहना चाहिये था ।' क्या इससे बुरा हाल कृष्ण का नहीं था ?

सारे युद्ध की तैयारी करके पहुँचे थे । अर्जुन के भरोसे युद्ध छेड़ा था । दूसरी तरफ कर्ण, अश्वत्थामा, द्रोण थे । इस तरफ

से असली योद्धा अर्जुन ही था, फिर भी विश्वास था कि जीत लेंगे क्योंकि अर्जुन की क्षमता बहुत ज्यादा थी । अर्जुन की शक्ति का पता महाभारत में केवल एक दिन लगता है, दिल से वह तभी लड़ा । जिस समय भीष्म से दुर्योधन ने पहले पूछा था कि 'क्या हम लोगों में से कोई ऐसा लड़ने वाला है या कहीं भी है जो दोनों तरफ से लड़ ले ?' उस समय भीष्म ने कहा कि द्रोण और अर्जुन समर्थ हैं । अर्जुन की सामर्थ्य का पता उस दिन लगा जिस दिन उसने जयद्रथ को मारा था । पहले दिन अभिमन्यु को धोखे से मार दिया गया, तब अर्जुन को गुस्सा चढ़ा और असली गुस्सा उसे एक ही दिन आया । कौरवों की तरफ ११ अक्षौहिणी (बटालियन) सेना थी । जयद्रथ को जिस दिन मारा है, उस दिन 'अक्षौहिणीः सप्त हत्त्वा हतो राजा जयद्रथः' महाभारतकार कहते हैं कि उस एक दिन में अकेले अर्जुन ने सात अक्षौहिणी फौज को मारा ! कौरवों ने भी सब तैयारी पूरी कर रखी थी कि जयद्रथ बच जाये और अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करने के कारण जल मरे । लेकिन उस दिन पुत्र की हत्या के दुःख और क्रोध से भरे हुए अर्जुन ने भीषण युद्ध किया । वह शक्ति-सम्पन्न था । उस दिन कोई ऐसा वीर नहीं था जिसको उसने चूर-चूर और क्षत-विक्षत न कर दिया हो । जब दुर्योधन ने द्रोण से कहा कि 'कर्ण भाग गया, अश्वत्थामा

भी भाग गया,' तब द्रोणाचार्य ने कहा कि 'सिंहनी को छेड़कर अब मेरे पास शिकायत करने आया है ! मैंने तेरे को कहा था कि इसको मत छेड़ । यह हम लोगों से दबता था, प्रेम के कारण नहीं लड़ता था । आज उसे क्रोध आ गया ।' चार अक्षौहिणी तो १७ दिन में मारी गई और बाकी उस दिन अकेले ने ही मारी क्योंकि बाकी कोई उस व्यूह में नहीं घुस पाया, इतना भयंकर व्यूह बना था । भीम, सात्यकि ये दोनों केवल बीच में पहुँच पाये, लेकिन पहुँचना दूर था, वहाँ नहीं पहुँच पाये । इतना बड़ा योद्धा होने के कारण भगवान् को विश्वास था कि सबके होते हुए भी इस अकेले से मैं जीत लूँगा । सारे महाभारत में वीर वह अकेला बना हुआ था । उसने ठीक युद्ध के समय कह दिया कि 'मैं युद्ध नहीं करता !' तब भगवान् ने उसे यह नहीं कहा कि बड़ा बेवकूफ है । भगवान् ने कहा :

'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥' २.३ ॥

इसमें एक वाक्य ऐसा नहीं है जो अर्जुन के दिल को तोड़ने वाला हो ।

'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितं ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥' २.२ ॥

कहा—'तेरे मुँह से ऐसी बात निकले, यह नहीं हो सकता । तू तो आर्य है । अनार्य ऐसा बोला करते हैं, जिन्हें स्वर्ग से गिरकर नरक जाना होता है, वे ऐसा बोला करते हैं । जिनकी संसार में कोई कीर्ति नहीं होती, वे इस प्रकार की बात किया करते हैं । तू तो स्वर्ग्य है, महत् कीर्ति वाला है । तेरे मुँह से ऐसी बात शोभा नहीं देती ।' आगे जाकर कहते हैं 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोसि' 'तू देव है, इन्द्र से पैदा हुआ है । तू यहाँ किस बात से डर रहा है ?' यह दृष्टि हम लोगों की थी कि प्रत्येक में भाव भरना है ।

इसी प्रकार राम के जीवन में देखते हैं । विश्वामित्र के साथ गये हुए हैं । अभी सोलह वर्ष के बच्चे ही थे, सोलहवाँ भी अभी लगा नहीं था 'ऊनषोडशवर्षोयं रामो राजीवलोचनः' अर्थात् १५ पार कर चुके हैं, सोलह के अभी पूरे नहीं हुए हैं । रास्ते में चलते हुए थक जाते थे, एक दिन नींद ज्यादा आ गई । विश्वामित्र ने देखा कि सन्ध्या का समय होने वाला है, राम अभी नहीं उठे । आवाज देते हैं 'उत्तिष्ठ नृपशार्दूल' हे राजाओं में सिंह की तरह प्रतिष्ठा वाले ! 'पूर्वा सन्ध्या प्रवर्त्तते ।'

पूर्व की संध्या आ रही है, सूर्य उदय होने वाला है, अब उठ जाओ। यह नहीं कहा 'अब उठ जा, कैसा बच्चा हो गया है।' यह हम लोगों की दृष्टि थी। श्वेतकेतु बड़े घमण्ड से भरकर आता है। पिता ने पढ़ने के लिये भेज रखा है। श्वेतकेतु के मन में बड़ा घमण्ड हुआ कि 'सबसे ज्यादा मैं ही पढ़ा हुआ हूँ। मेरा बाप क्या जानता है।' आकर पिता के सामने खड़ा ही रहा, पैरों को हाथ नहीं लगाया। उसके मन में था 'मैं जैसा पढ़ा हुआ हूँ, आप थोड़े ही पढ़े हुए हैं। ब्राह्मणों में तो विद्वान् पूजा जाता है।' पिता समझ गये, बड़े विद्वान् थे। पिता ने यह नहीं कहा कि 'तू यह क्या कर रहा है ?' पूछा—'पढ़ आया ? उस विद्या को भी पढ़ लिया होगा जिसे जानने से सब कुछ जान लिया जाता है 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।' श्वेतकेतु कहता है—'वह विद्या तो नहीं पढ़ी।' इस समय भी पिता के मुँह से नहीं निकलता कि नालायक है। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' 'हे सोम्य, हे प्रियदर्शन', ये सम्बोधन दिलासा देने वाले हैं, हिम्मत बढ़ाने वाले हैं।

नाम का असर तो पड़ता ही है, ये जो छोटे-छोटे सम्बोधन हैं, इनका भी बड़ा असर पड़ता है। जितना हम इन शब्दों का ध्यान कर सकें, उतना हम समझें कि हम उस बच्चे पर क्या प्रभाव डालना चाहते हैं, उसे किंकर बनाना चाहते हैं या सैमुअल—यह हमारे हाथ में है। जैसे दूसरे के पुकारने से हम पर असर पड़ता है वैसे स्वयं हम क्या बंनना चाहते हैं, यह भी बार-बार सामने आने के द्वारा ही संस्कारों से श्रद्धा का निर्माण होता है। व्रत पहली चीज है। इसलिये यदि हमको अपने व्यक्तित्व

को विकसित करना है तो हमें अपने व्यक्तित्व को मिर्जापुरी लोटा (जैलीफिश पर्सनेलिटी) नहीं बना लेना है। बहुत से लोगों में ऐसा ही व्यक्तित्व होता है जैसे मिर्जापुरी लोटा होता है जिसे इधर धक्का मारो तो उधर और उधर धक्का मारो तो इधर चला जाता है। उसका पेंदा नहीं होता, वह स्थिर नहीं रह सकता। ठीक इसी प्रकार से बहुत से लोग अपने जीवन में अंतिम समय तक किसी एक रूप को धारण नहीं कर पाते। उनकी कोई एक शक्ल नहीं बन पाती। जिधर से जिसने झटका मार दिया, उस समय उधर मुड़ गये और दूसरे की तरफ से झटका आ गया तो उधर मुड़ गये। आजकल यह हालत गरीब बेचारों की हुई है जिनको तुम लोग नेता मानते हो। वे बेचारे जहाँ जाते हैं, वहाँ यह देखते रहते हैं कि सामने वाला क्या चाहता है। बड़ी दया आती है। औरतों के बाल कटे होंगे। फिर यदि किसी ऐसी जगह पहुँची होंगी जहाँ पुराने ख्यालात के लोग रहते हैं तो उनके सामने सिर ढके रहेंगी इसलिये कि यदि कहीं देख लिया तो शायद हमें इनके वोट न मिलें! हिम्मत नहीं है। ऐसा होना ठीक नहीं है, यह व्यक्तित्व का विकास नहीं है। जितना-जितना मनुष्य का व्यक्तित्व विकसित होगा, वह उतना-उतना बाह्य प्रभावों से प्रभावित नहीं होगा। बाहर की चीज उसे झट से इधर-उधर हिला नहीं पायेगी, बल्कि वह चट्टान की तरह स्थिर रहेगा।

एक बात याद रखना कि चट्टान की तरह स्थिर रहने का मतलब जिद नहीं है। हठ कोई गुण नहीं है क्योंकि 'बुद्धेर्धर्मोऽनाग्रहः' यदि कोई चीज सामने आये जो उचित है तो स्वीकार करना बुद्धि

का लक्षण है। जिद का रूप है कि 'मुझे मानना ही नहीं है'! विकसित का रूप है कि 'जब तक मेरी समझ में गलती आ नहीं जायेगी तब तक किसी के कहने सुनने या हौए से मैं अपने को बदलने वाला नहीं हूँ'। यह विकसित व्यक्तित्व है। क्या जानते हो कि संसार में कौन ऐसा दोस्त है जो तुमसे कभी दूर नहीं रह सकता ? वह तुम्हारा अपना आपा है। तुम सबको छोड़ सकते हो, लेकिन अपने आप को नहीं छोड़ सकते। एक बार हम कहीं से आ रहे थे। कुछ आपस में बातें हो रही थीं। हमारे साथ हमारे एक मित्र थे। वे बता रहे थे कि कई बार जब किसी व्यापार के सिलसिले में जाना पड़ता है तो दो-चार लाख रुपये साथ लेकर जाना पड़ता है और जंगल में से निकलना पड़ता है। कोई दूसरे सज्जन उन्हें सलाह दे रहे थे कि आजकल के जमाने में ऐसा नहीं करना चाहिये, कोई लूट कर ले जायेगा। उन्होंने बड़ा अच्छा जवाब दिया कि 'जो दो-चार लाख कमाये हुए हैं, उसकी तो चिंता कर लूँगा लेकिन सबसे कीमती जान तो हर जगह लेकर जानी पड़ेगी। इसे घर में नहीं छोड़ सकते। जब बेशकीमती जान को बिना लिये नहीं जा सकते तो ये कमाये हुए दो-चार लाख तो फिर कमा लेंगे, इसमें क्या फर्क पड़ता है!' यह विकसित व्यक्तित्व का रूप है। अविकसित व्यक्तित्व हमेशा घबराता रहता है, क्योंकि उसमें आत्म-श्रद्धा, आत्मविश्वास नहीं है। इसलिये किसी ने कुछ कह दिया तो सोचता है कि मैं गलत ही होऊँगा। मनुष्य के अन्दर सिद्धान्त के बारे में दृढता चट्टान की तरह रहनी चाहिये। जिद्दीपना ठीक नहीं है।

एक वह व्यक्तित्व का रूप हुआ जो दूसरे सब प्रभावित करके उसके ऊपर डालते हैं। बचपन में यह स्वरूप अधिक होता है क्योंकि अभी विकसित (डैवलप्ड) नहीं हुआ है। बहुत से लोग जीवन के अंत तक ऐसे बच्चे ही बने रहते हैं। वे हर कार्य के बाद देखते हैं कि 'दूसरा मेरे इस कार्य को ठीक समझता है या गलत समझता है'। बाज़ार से साड़ी, सैट, गहना, फल कुछ भी चीज लेकर आ गये। अब जो आयेगा उसको दिखायेंगे कि 'पचास रुपये में लाया, क्या ठीक है ?' इसका क्या कारण है ? हरेक को इसलिये दिखा रहे हैं कि जब तक दूसरा न कह दे कि 'तुम पचास रुपये में अच्छी चीज लाये', तब तक उन्हें विश्वास नहीं है। एक बार हम कहीं गये हुए थे। वहाँ कोई एक ऐसा फल (फ्रैक्टाइन) सिंगापुर से आया करता था। पहले वह फल बहुत आता था, फिर आजादी के बाद आयात बन्द होने से आना बन्द हो गया। अब बहुत थोड़ा आता है। वह फल बड़ा महंगा था, वे ले आये। कई सज्जन अपनी राय देने वाले होते हैं। पूछा—'क्या भाव आया ?' हमारे साथ वाले ने बताया कि इस भाव आया। कहने लगे 'ठगे गये, बहुत भाव दिया।' एक-दो बार सुना, तीसरी बार कहा तो बोला कि 'हम नहीं ठगे गये। अरे भाई! चीज की कीमत तो वही है जो हमारी दृष्टि में है। तुम कहते हो—ठगे गये, लेकिन हमें यह पाँच रुपये में नहीं, नौ रुपये में मिलती तो भी हम लाते। तुम्हारी

दृष्टि में जो कीमत है, वह तुम्हारे पास, हमारी दृष्टि में इसकी यह कीमत है।' कीमत तो जो हमारी नज़र में चढ़ी हुई है, वही है। जो हमें प्रिय लगे उस चीज़ की हमारे लिये कीमत है दूसरे को अच्छी न लगे तो उसके लिये उसकी कोई कीमत नहीं है। कोई दूसरा व्यक्ति ठीक कहे तो ठीक समझें—यह औरतों में बड़ी आदत होती है। पहले खूब सजने-धजने में दो घण्टे लगा लेंगी फिर भी लड़की से पूछेंगी कि 'मैं कैसी लग रही हूँ ?' दो घण्टे के बाद भी श्रद्धा नहीं कि मैं ठीक हूँ। बहू या लड़की से पूछती हों, इतना ही नहीं, किसी पार्टी में पहुँच गईं तो वहाँ भी देखती हैं कि कोई पूछता है या नहीं कि साड़ी बड़ी बढ़िया है। कोई नहीं पूछता तो दिल मुरझा जाता है। ऐसा व्यक्तित्व विकसित नहीं हो पाया है क्योंकि वह हमेशा परमुखापेक्षी है, परतंत्र है, दूसरा क्या कहता है—इसके ऊपर अपने आपको निर्भर करता है।

व्रत का मतलब हुआ कि मैंने वरण कर लिया कि मुझे जीवन में क्या बनना है। यह मेरा निश्चय हो गया। अब मुझे इससे कोई मतलब नहीं कि दूसरा उस व्रत वाला है या नहीं। आज हमारा सोम का व्रत है, कल तुम्हारा एकादशी का व्रत है, परसों उसका प्रदोष का व्रत है। इसमें कोई लड़ाई झगड़े की बात नहीं है कि हम एकादशी का व्रत करते हैं, तुम क्यों नहीं करते। जिसने जो वरण कर लिया, वह उसका व्रत हो गया। इसी प्रकार से जीवन में मुझे क्या बनना है, यह मैंने निश्चय कर लिया, यह मेरा आदर्श हो गया। दूसरे उसी आदर्श को मानें, यह जरूरी नहीं है। इसी के ऊपर हम लोगों का सारा उपासना-काण्ड निर्भर है।

आज हम लोगों में से बहुत से लोग अपने उपासना-काण्ड को न समझने के कारण यह समझते हैं और प्रश्न भी करते हैं कि अपने हिन्दुओं का कोई एक भगवान् नहीं है! ऋग्वेद की भाष्य-भूमिका के अंदर भगवान् सायण कहते हैं 'सर्वैः परमेश्वर एक एव हूयते' इन्द्र वरुण आदि नामों से एक परमेश्वर को ही कहा जा रहा है। इसलिये हिन्दू केवल एक परमेश्वर का उपासक है। लेकिन उस परमेश्वर के किस रूप को, किस आदर्श को अपने जीवन में ढालना चाह सकते हैं, उसके अनुसार हमने अनेक आदर्श बनाये हैं। एक आदमी बहादुर बनना चाहता है। उसके लिये हमने एक आदर्श धनुर्धारी राम का या दुर्गा का बनाया। दूसरा व्यक्ति वेदपाठी बनना चाहता है तो उसके लिये धनुर्धारी राम क्या करेंगे! उसके लिये ब्रह्मा चाहिये जो हमेशा वेदपाठ में लगे रहेंगे। हमारे जितने भिन्न-भिन्न देवता हैं, वे कोई अलग-अलग नहीं हैं, एक ही परमेश्वर को जिस रूप में हम जीवन में ढालना चाहते हैं उसको हमने अपने सामने इष्ट रूप में रखा। वस्तुतः वह रूप सामने होने पर भी परमेश्वर एक है।

दृष्टांत से समझ लो कि घर में छोटा बच्चा होता है जो स्कूल में पढ़ रहा होता है, उसे पिताजी की वह फोटो अच्छी लगती है जिसमें वे एक चौकोर टोपी पहने हुए जिसमें दोनों तरफ झालर-सी लटकी हुई है, वाइस चान्सलर से डिग्री ले रहे हैं। लड़के को उस पर बड़ा अभिमान होता है कि पिता जी को आक्सफोर्ड में लार्ड

चैम्बर्स ने डिग्री दी। उसे वह अच्छी लगती है। दूसरा घर के अन्दर ऐसा होगा जिसको पिता जी का काम करने वाला चित्र अच्छा लगता है जिसमें बड़ी भारी मेज चम-चम कर रही है, दो टेलीफोन रखे हैं, दो-चार फाउण्टेन पैन रखे हुए हैं, आलीशान कुर्सी है जिस पर बैठकर दायें-बायें, आगे पीछे जहाँ चाहे घुमा लें और उसपर बैठे हुए बड़े ठाठ से दस्तखत कर रहे हैं, पता नहीं किस पर। उसे पिता का वह चित्र अच्छा लगता है कि देखो कैसे ठाठ से बैठे हुए हैं। पत्नी को वह चित्र अच्छा लगता है जिसमें वे नहाने के लिये जा रहे हैं, अंगोछा पहने हैं। पत्नी को वे दिन अच्छे लगते हैं, बुढ़ापे वाले दिन उसे अच्छे नहीं लगते। क्या इन तीन चित्रों के कारण यह कहोगे कि इनके घर में अलग-अलग आदमियों को अलग द्वारा मान रखा गया है ? इन सब चित्रों के द्वारा जो घर का मालिक है, गृहपति है, उसकी महिमा प्रकट की जा रही है। साधारण व्यक्ति के इतने और इससे ज्यादा भी रूप हो सकते हैं। माँ छह महीने के मुन्ने का छोटा-सा फोटो रखती है और जब अपने बच्चे को देखती है कि यह बड़ा हो गया है तो उसे वह और अच्छा लगता है। अपना-अपना दृष्टिकोण है। जैसे एक ही व्यक्ति के अनेक रूप होने पर व्यक्ति-भेद नहीं, वैसे ही अनेक मूर्तियाँ, अनेक देवताओं की प्रतीति होने पर भी अनेक देव नहीं। ये भिन्न-भिन्न आदर्श इसलिये कि उनमें से हम किसी एक का व्रत कर लेंगे कि यह आदर्श हमको बनना है।

एक वह आदर्श हुआ जो समाज ने, माता-पिता ने नाम इत्यादि के द्वारा हमें दिया। यह हम मानते हैं कि जीवन में अधिकतर लोग उसी आदर्श में ढलेंगे लेकिन बड़े होने पर कुछ स्वतंत्रता भी आती है। फिर अपने व्यक्तित्व का परिवर्तन करने के लिये वरण भी कर सकते हैं, किसी रूप का वरण करके अपना जीवन भी बदल सकते हैं। जितना-जितना विकसित व्यक्तित्व होगा, उतना-उतना यह व्रत दीर्घ और दृढ रहेगा। जितना-जितना व्यक्तित्व कमजोर होगा, उतना-उतना यह व्रत अल्पकालीन होगा। छोटा बच्चा रेल में चला जाये तो उसे बड़ा शौक होता है कि मैं भी बड़ा बनकर गार्ड बनूँ और हरी झण्डी दिखाऊँ। फिर किसी इंजन के पास जाता है, देखता है कि चालक काली टोपी पहने हुए है। उसके मन में आता है कि मैं भी इंजन चलाने वाला बनूँ। किसी मोटर ड्राइवर को देखकर सोचता है कि मैं भी ड्राइवर बनूँ। कभी बढ़िया कपड़े पहने हुए लोगों को राष्ट्रपति भवन में देखता है तो कहता है कि यह बन जाऊँ तो अच्छा होगा। जिस-जिस को देखता गया, वैसा-वैसा मन होता गया, कहीं टिकता नहीं। इसी प्रकार जब तक व्यक्तित्व विकसित नहीं होता, तब तक जीवन के अंत तक एक-एक आदर्श बनाता है और उस को बिना पूरा किये हटाता है। जिसको देखता गया, वैसा बनता चला जाता है। परिवर्तन तब करना चाहिये जब जिस आदर्श को हमने सामने रखा वह पूर्ण हो जाये, तब बदलने का समय आता है।

युधिष्ठिर के बारे में कहा जाता है कि उन्हें एक पाठ याद करने को दिया गया। उनके साथ और भी कई छात्र पढ़ने वाले थे। दूसरे दिन जब वापिस लौटकर आये तो सबने कहा कि पाठ याद हो गया, लेकिन युधिष्ठिर ने कहा कि 'मेरे को अभी याद नहीं हुआ।' औरों को और आगे का पाठ मिल गया। दूसरे दिन युधिष्ठिर को फिर वही पाठ दिया गया कि झूठ मत बोलना, सत्य बोलना 'सत्यान्न प्रमदितव्यं'। पाठ कठिन नहीं था। दूसरे दिन फिर पूछा कि याद हो गया ? कहा—'अभी नहीं हुआ।' द्रोणाचार्य ने बड़ा डाँटा कि सब याद कर आये, तेरे को आज भी नहीं हुआ! कल याद करके आना, नहीं तो दण्ड दिया जायेगा। तीसरे दिन फिर पूछा—'सुना। खेलता रहता होगा।' उन्होंने कहा—'अभी भी याद नहीं हुआ, खेलता भी नहीं हूँ, लेकिन अभी याद नहीं हुआ।' गुरु जी ने कहा—'जैसा याद है, वैसा बोल।' तब कहा—'सत्यं वद, सत्यान्न प्रमदितव्यं'। शास्त्रकारों ने कहा है कि यदि तीसरा दिन भी उन्हें दे दिया जाता तो जीवन में एक बार जो झूठ बोलने से द्रोणाचार्य को मरना पड़ा वह नहीं मरना पड़ता। क्योंकि युधिष्ठिर जब कहते हैं कि पाठ याद नहीं हुआ है तब उनका मतलब था कि सत्य अभी मेरा व्रत नहीं बना, अभी दिल में कुछ डाँवाडोल है। द्रोणाचार्य समझ रहे थे कि लिखी पंक्ति याद नहीं है।

आज की कैसी शिक्षा है : कोई लड़का साल भर सच बोले, एक बार भी झूठ न बोले और दूसरा रोज़ बीस झूठ बोले; इम्तिहान में प्रश्न आ जाये कि सत्य पर एक निबन्ध लिखो तो जो साल

भर झूठ बोला है, वह यदि बढ़िया युक्तियाँ देता है क्योंकि कहीं से रट्टा मारकर आ गया है, तो उसकी प्रथम श्रेणी आ जाती है। जो साल भर सच बोला है लेकिन लिखने में उतना ढंग से नहीं लिख पाया, उसकी तृतीय श्रेणी आती है। यानी लड़कों को हम यह नहीं पढ़ाते कि क्या बनो, हम पढ़ाते हैं कि क्या बको! इस विद्या के अन्दर सत्य बोलने की कीमत नहीं, सत्य बोलना सिद्ध करने की कीमत है। द्रोणाचार्य भी यही पूछ रहे थे कि पीछे का पाठ याद हुआ या नहीं जबकि युधिष्ठिर कह रहे थे कि अभी हृदय पर अंकित नहीं हुआ, श्रद्धा नहीं हुई है, थोड़ा कच्चा रहा है। गुरु को शिष्य से दिल मिलाना पड़ता है। अब क्यों सारे लड़के अध्यापकों के विरोध में इकट्ठे खड़े हो जाते हैं ? क्योंकि कच्चा पाठ पढ़ाते हैं। जो पाठ लिया उसे दृढ कर लो। दृढ करने के बाद दूसरे कदम पर जाओ तो ठीक है। हमारे व्यक्तित्व के अन्दर यह विकास आया तो व्रत के द्वारा श्रद्धा को प्राप्त होंगे, श्रद्धा के द्वारा सत्य की प्राप्ति होगी। व्रत शुरू में हमको दूसरी धारणा करवाता है। जिस चीज का प्रयोग करोगे, उसका 'सजैशन' मिलता है। बाद में स्वयं धारण करता है, यह धारणा जितनी मज़बूत रहेगी, उतना व्यक्तित्व विकास करता चला जायेगा और अंत में पूर्णता प्राप्त कर लेगा। इस धारणा का स्वरूप आगे बतायेंगे।

प्रतिरोध

विचार कर रहे थे कि किन साधनों के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व को बढ़ाये। व्यक्तित्व मनुष्य की श्रद्धा के अनुरूप ही होता है। जैसी श्रद्धा की दृढता होगी, वैसा ही व्यक्तित्व बनेगा। उस श्रद्धा को दृढ करने का व्रत एक साधन बताया, व्रत का सामान्य रूप बताया। अब कुछ और साधनों के विषय में ही ज्यादा विचार करेंगे। कल बताया था कि व्यक्तित्व के अन्दर दो तत्त्व हैं। एक यह कि दूसरों के हृदय में हमारा क्या प्रतिबिम्ब (इमेज) है और दूसरा, हमारा अपने विषय में क्या प्रतिबिम्ब है; अर्थात् हम अपने बारे में क्या सोचते हैं और दूसरे हमारे बारे में क्या सोचते हैं। इन दोनों प्रतिबिम्बों की आपस में क्रिया-प्रतिक्रिया (ऐक्शन-रिऐक्शन) होती है। नाम इत्यादि के द्वारा दूसरे हमारे ऊपर कुछ थोपते हैं और जो हमारे अपने भीतर की इच्छा, कामना, अभिलाषा या आदर्श है, जो हमारे मन में अपना प्रतिबिम्ब है, वह उसके साथ मिलता रहता है। इसके अन्दर ही विकास का बीज है।

यह समझ लो कि संसार में प्रगति के लिये विरोध आवश्यक है। यह संसार की सब चीज़ों के स्वरूप के विषय में समझ लेना कि जहाँ विरोध नहीं, वहाँ विकास भी नहीं है। आगे बढ़ने की सम्भावना वहीं हो सकती है जहाँ तुमको आगे बढ़ने से रोकने वाली कोई चीज़ हो। जैसे जमीन पर तो तुम चल सकते हो क्योंकि जमीन तुमको खींचती है लेकिन हवा पर नहीं चल सकते क्योंकि हवा

किसी प्रकार का प्रतिरोध (रिज़िस्टेन्स) नहीं देती। हवा की अपेक्षा यदि बिल्कुल आकाश (वैक्यूम) में चले जाओ तो वहाँ हवाई जहाज की गति नहीं हो सकती क्योंकि प्रतिरोध नहीं है। हमारे एक महात्मा ने वेदांत-शास्त्री किया। उसके बाद वे आगे नहीं पढ़े। दो-एक साल नहीं पढ़े तो हमने उनसे पूछा कि तुम पूरा वेदांताचार्य क्यों नहीं कर लेते ? कहने लगे-'स्वामी जी, जब तक काशी में रहता था, मेरे को लगता था कि अभी नया पढ़ा हुआ हूँ, इसलिये कुछ नहीं जानता। वेदांतशास्त्री करने के बाद एक बार गर्मी की छुट्टियों में प्रचार करने चला गया। जिस शहर में भी पहुँचा वहाँ लगा कि मेरे से बड़ा वेदांत का विद्वान् कोई है ही नहीं!' बात ठीक ही है। वेदांतशास्त्री को, जितना भी साधारण आदमी जानता है और जान सकता है, उससे तो बहुत ज्यादा ज्ञान है ही। इसलिये उन्होंने कहा 'अब आगे पढ़ने की इच्छा ही चली गई।' कारण कि प्रतिरोध नहीं रहा। यदि काशी में रहते हो तो जिससे भी मिलोगे, बात-चीत करोगे, वह कोई न कोई शास्त्रीय शंका करेगा तो मन में तुरन्त इच्छा होगी कि सोचकर इसका जवाब पता लगायें, इसका मुझे तो पता ही नहीं है। और जब ऐसी जगह पहुँच जाओगे जहाँ कोई कुछ जानने वाला है ही नहीं तो वहाँ तुम ही सबसे ज्यादा चमकते हो। संस्कृत में कहावत है; राजस्थान में, मारवाड़ में चले जाओ तो वहाँ बड़े पेड़ तो होते नहीं, वहाँ छोटी-सी एरण्ड की झाड़ी को पेड़ कहते

हैं! या 'अंधों में काणा राजा' समझ लो। जहाँ सब अंधे होंगे, वहाँ काणा सबसे बड़ा पण्डित माना जायेगा। चाहे भौतिक जगत् में हो, चाहे मानसिक जगत् में हो, सब जगह प्रतिरोध की आवश्यकता है। यदि तुम जलाशय के स्तर को ऊँचा करना चाहते हो तो दीवाल बनाते हो जो पानी के चलने को रोक सके। प्रतिरोध बनाना पड़ता है।

इसी प्रकार व्यक्तित्व का विकास नहीं होता है जब तक व्यक्तित्व के ऊपर कोई प्रतिरोध न हो। हमारी जो अपने विषय में प्रतिबिम्ब की भावना है, हमारी जो अपनी 'इमेज' हमारे मन में है, उस पर दूसरों का प्रतिबिम्ब प्रतिरोध का काम करता है। इसीलिये यदि कोई व्यक्ति बचपन से एकांत में रह जाये तो उसका व्यक्तित्व बिल्कुल विकसित नहीं होगा, पशुवत् रह जायेगा। मनुष्य दूसरे लोगों के साथ सम्बन्ध में आता है। लेकिन यहाँ सम्बन्ध में आने का मतलब ठीक से समझना : बहुत बार एक आदमी पचास आदमियों के साथ साल भर तक बैठा रहे लेकिन उनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता! कार्यालय में आदमी रहता है तो उसे यह भी पता नहीं रहता कि हमारे साथ काम करने वाले की पत्नी जीवित है या नहीं और उसके बच्चे कितने हैं। जब यह भी पता नहीं तो आगे दूसरी चीजों में उनका आपस में सम्बन्ध होगा ही क्या! इसीलिये हमारा सम्बन्ध से मतलब 'इन्वाल्वमेण्ट' से है, जब दूसरा मेरे बारे में क्या सोचता है, इसका हमारे हृदय में कोई महत्त्व हो। यदि वह महत्त्व नहीं है तो फिर वह हमारे लिये प्रतिरोध का काम नहीं कर

सकता। प्राय: देखा होगा कि एक हज़ार मज़दूर एक फैक्ट्री के अन्दर तुमको बुरा समझें तो तुमको चोट नहीं लगती लेकिन यदि एक तुम्हारा मैनेजर तुम्हें बुरा समझ ले तो हृदय में चोट लगती है। एक हजार ग्राहक तुम्हें बुरा समझें तो चोट नहीं लगती है और एक पत्नी तुमको बुरा समझ ले तो चोट लग जाती है। आदमी दोनों हैं लेकिन फर्क यह है कि उनके साथ तुम्हारा इन्वाल्वमेण्ट नहीं है, उनके साथ यह भावना नहीं है कि 'ये मेरे बारे में क्या सोचते हैं इसका कोई महत्त्व है'। तुम्हारी दृष्टि में उसका कोई महत्त्व नहीं है लेकिन 'मैनेजर, पत्नी, भाई तुम्हारे बारे में क्या सोचते हैं'—यह तुम्हारे हृदय में महत्त्व रखता है। आदर्श पुरुष तो वह है जिस पर फैक्ट्री का चौकीदार उसके बारे में क्या सोचता है—यह भी हृदय पर प्रभाव डाल सके। इतना भाव (फीलिंग) मनुष्य के अन्दर पूरा होना चाहिये।

राम के जीवन में यही दिखाने का प्रयत्न किया गया है। एक धोबी ने कहा कि 'आपने यह काम अच्छा नहीं किया।' उस धोबी की कोई वकत नहीं थी। यदि वाल्मीकि रामायण को प्रमाण मानें तो जनता के एक वर्ग ने कहा था कि राम ने वह कार्य अच्छा नहीं किया। आज का आदमी होता तो कहता कि लोग तो कहते ही रहते हैं! आज के व्यक्ति का दृष्टिकोण बता दें—इस बार हम

यहाँ से चुनाव लड़े और जीत गये। अगली बार तक यहाँ के सब लोग विरोधी हो गये, इसलिये दूसरी जगह पहुँच कर चुनाव लड़ लेते हैं। हमको शरम महसूस नहीं होती क्योंकि ये बुरा कहते हैं तो और बहुत मतदाता हैं। लेकिन राम की दृष्टि देखो : वे कहते हैं कि एक धोबी या एक छोटे से वर्ग ने भी मेरे कार्य को गलत समझा तो इसका मतलब है कि यह प्रतिरोध है और मैं अपने व्यक्तित्व को और विकसित करूँ। उनका क्या लांछन था ? बहुत बार लोग पूछते हैं कि सीता-निष्कासन क्यों ? लांछन यह था कि राम भोग-परायण होने के कारण सीता को रख रहा है। भगवान् राम यह सिद्ध करने जा रहे हैं कि 'मैं भोग-परायण नहीं हूँ, तुम मुझे भोग-परायण भ्रम से समझ रहे हो। मैं सीता-संग्रह अर्थात् उसे अपने घर में इसलिये नहीं लाया कि मेरी भोग की दृष्टि है।' प्रश्न सीता की दुश्चरित्रता का नहीं था, लांछन सीता पर नहीं था। लांछन था कि सीता को, यदि उसमें दुश्चरित्रता थी, तो राम ने उसे भोगेच्छा से रखा। इसलिये अपनी इस भावना (सेंसिटिविटि) से, कि एक धोबी या छोटे-से भी वर्ग के कहने से, उनके हृदय में यह धारणा हुई कि तदनुरूप मैं अपने व्यक्तित्व को और आगे विकसित करूँ।

आदर्श तो हमारा वह है लेकिन सब लोग उस आदर्श का स्पर्श नहीं कर सकते। इतना ठीक है कि जिनके साथ हमारी भावनाओं का सामंजस्य है, जिनको हम कीमत देते हैं, वस्तुतः वही हमारे व्यक्तित्व

को बढ़ाने में सहयोग देते हैं। इसीलिये जिस व्यक्ति के पास जितने खुशामदी इकट्ठे हो जायें, वह व्यक्ति उतना ही गिर जायेगा। आप लोगों ने राजा की प्रसिद्ध कहानी सुन रखी होगी। लोगों ने कहा कि आपका शासन तो समुद्र पर भी चलता है। लेकिन वह दिखाना चाहता था कि खुशामदी के चक्कर में नहीं फँसने वाला है। वह समुद्र के किनारे पहुँचा और लहरों से कहा—'रुको।' तब उसने दरबारियों से कहा कि 'ये लहरें मेरी बात ही नहीं मानतीं, तुम सब खुशामदी हो।' यहाँ बता रहे थे कि विकास तभी सम्भव है जब जिसको हम कीमत देते हैं, वह हमारे साथ इस दृष्टिकोण को ले कि हम विकसित हों। इसी प्रकार जिसका विकास करना इष्ट है, हम चाहते हैं कि इसका विकास करें, उसके लिये हमको भी एक विरोधी तत्त्व बनना पड़ेगा। लेकिन विरोध का मतलब खिलाफत नहीं है बल्कि हमारे हृदय में जो उसका प्रतिबिम्ब है, उसको बार-बार केवल उसके सामने रखना पड़ेगा जिससे वह व्यक्ति विकास को प्राप्त करेगा।

वह कौनसी चीज़ है जो सबसे ज्यादा हमारा प्रतिरोध करती है ? हमारा मन ही वह चीज है। लोग प्राय: सोचते हैं कि भगवान् ने मन इतना चंचल क्यों बनाया ? हम कहते हैं कि यदि मन स्थिर होता तो कोई व्यक्तित्व कभी विकसित नहीं होता! तुम जो बनना चाहते हो, मन उसका विरोध करता है, इसीलिये विकास सम्भव

है। जैसे हवा पर नहीं चल सकते, ऐसे ही मन यदि स्थिर हो जायेगा तो विकास की सम्भावना शून्य हो जायेगी। भगवान् ने मन को इतना चंचल हमको विकसित करने के लिये बनाया है। हम जो करना चाहते हैं, मन उसका विरोध करता है, दूसरा दृष्टिकोण सामने ले आता है। बहुत बार देखा होगा कि जिस समय ध्यान करने बैठते हो, उस समय दुनिया की ऐसी बातें याद आती हैं जो काम करते समय कभी नहीं आतीं और जब काम करने में लगे हो तब अकस्मात् मन परमात्मा की तरफ जाकर ऐसा स्थिर हो जायेगा कि आदमी को लगेगा कि ध्यान करता होता तो अच्छा था। ऐसा मन इसलिये करता है कि तुम जो करोगे, उसके अन्दर एक प्रतिरोध उत्पन्न करने के लिये मन है क्योंकि इसी से विकास की प्राप्ति होती है। लेकिन यदि पानी ही नहीं होगा और तुमने बाँध बनाकर खड़ा कर लिया तो वहाँ कुछ विकास नहीं होगा! प्रतिरोध का मतलब है कि जिसका प्रतिरोध किया जाता है, वह मौजूद हो। यदि मन के अनुसार घूमने लग जाओगे. तो कुछ व्यक्तित्व नहीं बनेगा। मन जब-जब प्रतिरोध करेगा, तब-तब अपनी जो स्वयं की आभा (प्रतिबिम्ब) है, उसे पुनः सामने लाना पड़ेगा, अर्थात् ऐसर्ट (assert) करना पड़ेगा। इसके दो उपाय शास्त्रकारों ने बताये। एक उपाय यह बताया जिसे छाया पुरुष का ध्यान कहते हैं। प्रतिदिन मानो अपनी छायावत् एक पुरुष सामने खड़ा हुआ है। ठीक जैसे अपना शरीर है, वैसे

ही एक और शरीर सामने खड़ा है लेकिन अपने परिमाण से बड़ा है। पैर उसके जमीन पर हैं तो सिर काफी ऊँचा, लेकिन चेहरा अपने जैसा है, इसको छाया-पुरुष कहते हैं। फिर उसके बाद पहले तो उसके अंग-प्रत्यंग, अवयवों के साथ अपने अंग-प्रत्यंग (अवयवों) की समानता का ध्यान करो। कुछ दिन ऐसा करने से अभ्यास हो जाता है कि जब भी तुम आँख बन्द करोगे, तब ठीक अपना प्रतिबिम्ब (छायापुरुष) सामने आ जाता है। लेकिन कैसे करो ? जो अपने शरीर का सुन्दरतम रूप है, उसे लेकर करो। छांदोग्य उपनिषद् (सामवेद) में इसका स्वरूप बताया। इन्द्र को पहले ब्रह्माजी ने उसका शरीर दिखाया जिसमें दाढ़ी बढ़ी हुई थी, नाखून बढ़े हुए थे, शरीर पर कपड़े ढंग के नहीं थे और उससे कहा कि 'इसे देखो।' फिर उसके बाद कहा कि 'तेल मालिश करके, नाखून कटवा कर, मुकुट पहने बिल्कुल सजे हुए रूप के साथ आओ।' इन्द्र ने वही किया। इन्द्र ने सामने आकर कहा कि 'मैं तैयार होकर आ गया' तो ब्रह्माजी ने कुएँ में उसे उसका चेहरा दिखाया और पूछा—'कैसा दीखता है ?' इन्द्र ने कहा—'सुन्दर दीखता है।' ब्रह्माजी ने कहा—'यही परमात्मा है।' छाया-पुरुष के ध्यान में अपने शरीर का सुन्दरतम रूप सामने लाया जाता है। यह बहुत जरूरी है क्योंकि याद रखना कि हम चाहे जितनी बातें कर लें, लेकिन अंततोगत्वा जब हम मैं शब्द का प्रयोग करेंगे, तब हमारे सामने अपना शरीर ही उपस्थित होगा। विचार

की दृष्टि से जितना कहते रहें कि 'मैं शरीर नहीं हूँ, मैं प्राण नहीं हूँ, मैं बुद्धि नहीं हूँ,' लेकिन जब अपने आपको सोचेंगे, तब अपना शरीर ही सामने आयेगा। उस शरीर पर जिन गुणों का आधान करोगे, वे गुण अपने ऊपर प्रतिबिम्बित होंगे। इसीलिये शरीर को बिल्कुल ठीक प्रकार से रखना आवश्यक है। हमारे यहाँ योगाभ्यास में आसन और प्राणायाम पर ज़ोर दिया जाता है, शरीर की स्वस्थता सुन्दरता पर ज़ोर दिया जाता है। लेकिन शरीर की सुन्दरता प्रसाधनों की सुन्दरता नहीं। शरीर में लावण्य होना चाहिये, प्रसाधन तो उसकी सुन्दरता को बताते हैं। शरीर का लावण्य छाया पुरुष में देखा जाता है।

इस अभ्यास के फलस्वरूप देखोगे कि सबसे पहला असर यह पड़ने लगेगा कि शरीर ढीला-ढाला (स्लिप शार्ट वे) नहीं रहेगा क्योंकि इसमें हर बार मन में यह धारणा दृढ होती रहती है कि मेरा रूप ऐसा है। मनुष्य के शरीर और शरीर के व्यवहारों से ही तो सारा व्यक्त होना है। हम लोगों के यहाँ भोजन का नियंत्रण, वस्त्रों का नियंत्रण स्मृतिकारों ने क्यों किया ? इसी दृष्टि से किया। ब्राह्मण के अन्दर जिन गुणों को लाना चाहते हैं, उनके अनुकूल ही उसके वस्त्र हों और उसका सब कुछ हो। इस चीज़ को हम प्राय: भूलकर कहते हैं कि केवल मन को ही देखना है, शरीर को देखने से क्या होगा! यह बात ठीक नहीं है। उनका असर अवश्य पड़ता है। जो शरीर को गंदा रखेगा, उसका मन साफ रह सके,

यह सम्भव नहीं है। उलटा तो हो सकता है, गंदा मन तो साफ शरीर में रह सकता है लेकिन ऐसा नहीं हो सकता कि साफ मन गंदे शरीर में रहे।

जब छाया पुरुष का यह ध्यान दृढ हो जाये, जब उसका रूप सामने आने लग जाये, तब अगली सीढ़ी होती है कि जो तुम्हें अपने जीवन में बनना है, उन आदर्शों को अब अपने रूप में देखो, क्रिया रूप बनाओ। जैसे-जैसे यह आधान करते जाओगे, जैसे-जैसे यह दृष्टि बनाते जाओगे, वैसे-वैसे अपने मन में जो अपना प्रतिबिम्ब (इमेज) है, वह स्फुट होता जायेगा। दूसरे तो बहुत से हैं और अपना-अपना प्रतिबिम्ब हमारे ऊपर डाल रहे हैं और चूँकि हमने अपने मन में अपने प्रतिरूप, प्रतिबिम्ब को दृढ नहीं बनाया है, इसलिये जो हम बनना चाहते हैं, वह पिछड़ जाता है और जो दूसरे हमें बनाना चाहते हैं वह बढ़ता जाता है। उनका प्रतिरोध तो आवश्यक है। वे हमें क्या बनाना चाहते हैं—यदि यही पता न हो तो हम कुछ बनेंगे ही नहीं। लेकिन उनके इस प्रतिरोध से फायदा उठाकर हमें वही बनना है जो हम बनना चाहते हैं। इस छाया-पुरुष के ध्यान से जो प्रतिबिम्ब अपना है, वह दृढ-दृढतर करते जाते हैं। धीरे-धीरे इससे हमारा व्यक्तित्व विकसित होता है।

शरीर आ गया, क्रिया आ गई। अगला कदम है कि धीरे-धीरे हम उस छाया-पुरुष को अपने मन में देखें। अब तक बाहर देख रहे थे, अपनी क्रियायें बाह्य प्रकट होने लगें, तब उसको

अपने मन में देखना है। उसे अन्तर्यामी रूप से स्थित करना है। जैसे-जैसे वह मन में स्थिर होता जायेगा, वैसे-वैसे मन के अन्दर एक प्रगतिशील स्थिरता आयेगी। दो तरह की स्थिर चीजें होती हैं– १. गतिमान् स्थिर (मूविंग स्टेशनरी) और २. निर्गति स्थिर (अनमूविंग स्टेशनरी)। ट्यूनिंग फोर्क को हिला दो तो दोनों तरफ हिलता रहता है लेकिन उसका मध्य जहाँ है, वहीं बना रहता है। इसे हिलती हुई (गतिशील) स्थिरता कहते हैं। दूसरी, ठूँठ की स्थिरता है। घास बड़ी से बड़ी आँधी में नहीं उखड़ती, ठूँठ उखड़ जाता है। घास में स्थिरता है लेकिन गतिशील (मूविंग) स्थिरता है अतः हवा के अनुसार अपने आपको परिवर्तित भी कर लेती है और स्थिर भी बनी रहती है। ठूँठ के अन्दर वह स्थिरता नहीं होती, वह टूट जायेगा। जीवन में गतिशील स्थिरता होनी चाहिये, ठूँठ वाली स्थिरता नहीं। अर्थात् हम क्या बनना चाहते हैं, उस पर आज हम स्थिर हैं। लेकिन बाकी जितना वातावरण है, दूसरों के जो चित्र हमारे ऊपर पड़ते हैं, उसके प्रति सैन्सिटिविटि हो अर्थात् उसके अनुसार अपने आपको बदलने की सामर्थ्य वाले हों। मोटी दृष्टि से देखने पर लगता है कि गतिशील स्थिरता उलटी बात है। लेकिन ऐसा नहीं है। जैसे-जैसे मन में स्थिरता होगी, वैसे-वैसे गतिशील स्थिरता आती चली जायेगी। यही व्यक्तित्व का विकास है।

विकास की कोई सीमा नहीं है, इतना याद रखना। जीवन में क़भी भी ऐसा नहीं होता है कि 'अब हमारे में पूर्णता आ गई।

अब इसके आगे कुछ नहीं है, दीवाल खड़ी हो गयी'। हम लोगों के सोचने में यह बड़ी भारी भूल है। हम हर प्रगति की सीमा देखते हैं, लगता है हर प्रगति कहीं खत्म हो जायेगी। कई बार लोग पूछते हैं कि यह विज्ञान की प्रगति कब तक बढ़ेगी ? हम कहते हैं कि प्रलय तक बढ़ती जायेगी! यह सोचो कि सौ साल बाद एक दीवाल आ जायेगी जिसके आगे कुछ नहीं होना है, ऐसा कभी नहीं होना है, बढ़ती जायेगी। इसी प्रकार लोग परमात्म-मार्ग में समझते हैं कि हम कहीं जाकर पहुँचेंगे, आगे दीवाल आ जायेगी जिसके और आगे कुछ नहीं है। सामवेद की छांदोग्य उपनिषद् कहती है कि जैसे इस संसार की कोई सीमा नहीं, चाहे जितने आगे चलते चले जाओ, वैसे ही अध्यात्म की कोई सीमा नहीं है। अपने हृदय में प्रवेश करके हृदय के तत्त्वों को बाहर निकालते जाओ तो उसकी भी कोई सीमा नहीं है, असीम है। यह नहीं समझना चाहिये कि कहीं जाकर व्यक्तित्व के विकास की एक दीवाल आ जायेगी। लोग कभी नहीं सोचते कि यदि विकास की कोई सीमा हो जाये तो उसके बाद जीवन कितना रसहीन हो जायेगा, उस जीवन के अन्दर कितनी बोर्डम आ जायेगी। कुछ करने को नहीं—यह कभी नहीं हो सकता। जहाँ प्रगति असम्भव हो, वहाँ रसहीनता हो जाती है। यह तो एक तरह से तुम उल्टे, विकास के पीछे की तरफ चल दिये; बढ़ते हुए उस दीवाल तक पहुँचे तब वहाँ रस आया, अब वहाँ खड़े रहने से रसहीनता आई तो पिछड़ गये।

जहाँ तक पहुँचे हो, वहाँ तक रहने के लिये भी निरंतर आगे बढ़ना आवश्यक हो जाता है। हिमालय में जहाँ पर बर्फ पड़ी हो, जैसे बद्री में व्यास गुहा की तरफ बर्फ पड़ी रहती है, वहाँ धीरे-धीरे चलो तो ऊपर पहुँच जाते हो। बहुत से लोगों को पहाड़ पर चढ़ना नहीं आता। खासकर १८-२० हजार फीट की ऊँचाई पर चढ़ना चाहते हैं तो दिल्ली की सड़कों पर चलने जैसे भागते हैं। ऊँचाई पर वायु का आक्सीजन कम होता जाता है, तेजी से चलने पर दम उखड़ता है, इसलिये खड़े रहते हैं। जैसे ही खड़े हुए, वह बर्फ नीचे की तरफ खिसकने लगती है। वहाँ साँस लेंगे तो फिर बीस कदम नीचे आ जायेंगे! बीस कदम फिर ऊपर जाओ, फिर साँस उखड़ जायेगी। जानने वाला धीरे-धीरे पैर बढ़ाता जाता है क्योंकि उसे पता है कि खड़े रहे तो केवल खड़े नहीं रहेंगे, पिछड़ जायेंगे। इसी प्रकार हमारे व्यक्तित्व के विकास में है। यदि हम धीरे-धीरे आगे बढ़ते चले जायेंगे तो बढ़ते जायेंगे। यदि दीवार मानकर खड़े हो जायेंगे तो पिछड़ने लग जायेंगे। यह छाया-पुरुष की प्रवृत्ति है। इससे हमारा अपना प्रतिबिम्ब दृढ होता है। जीवन में दूसरों के प्रति स्पन्द का भाव कम नहीं हो पाता है और प्रगति बढ़ती ही चली जाती है।

यह एक साधन बताया। कुछ लोगों को यह साधन प्रारम्भ करना कठिन होता है क्योंकि ध्यान का कभी अभ्यास नहीं किया। बहुत से लोग ध्यान का अभ्यास नहीं करते इसलिये उनका मन किसी

एक चीज पर स्थिर नहीं हो पाता। हमने ऐसे लोगों को देखा है जो प्रकृति से बड़ा प्रेम करते हैं और बड़ा परिश्रम करके यहाँ से कश्मीर या केदार जाते हैं, धन खर्च करते हैं, कष्ट उठाते हैं। वहाँ एक सुन्दर दृश्य देखने जाते हैं। जब वहाँ पहुँचे और दो मिनट देखा तो कहते हैं, 'अब चलो। बहुत सुन्दर दृश्य है, बड़ा अच्छा लगा, बड़ा पसन्द आया।' हमें आश्चर्य होता है कि क्या दो मिनट के लिये ही इतना सारा परिश्रम किया ? इसका कारण यह है कि ध्यान का अभ्यास नहीं है क्योंकि ध्यानी व्यक्ति को मन के लायक चीज मिल जाये तो वह बैठकर उसे अपने अन्दर पूरी तरह जज़्ब करता है। लेकिन जिसे ध्यान का अभ्यास नहीं होता, उसके सामने अच्छी से अच्छी चीज भी आ जायेगी तो वह स्थिर नहीं रह पाता। वह उस सुन्दर दृश्य को देखने के बाद क्या करता है ? एक बार हम कश्मीर पहुँचे। वहाँ देखा कि बड़ा सुन्दर दृश्य है। बच्चे वहाँ आलू-चिप्स खा रहे हैं, फिर गप्पे मारने के बाद सुन्दर दृश्य देखने लगें और फिर खाने लग जायें। हमने कहा, 'पहले खा लो, फिर अच्छी तरह देख लो।' कहते हैं—'ऐसे देखने में मन नही लगता!' जबकि वे सौन्दर्य प्रेमी हैं, लेकिन ध्यान का अभ्यास नहीं, स्थिरता नहीं। यह आवश्यक है।

इसलिये इसके लिये हमारे यहाँ दूसरा उपाय लीलानुसंधान बताया है। इसे कुछ-कुछ विदेशी लोग 'ट्रांसैक्शनल स्कूल आफ साइकालाजिस्ट' में ऐसा करते हैं। उसमें अपने आपको एक किसी

विशिष्ट दृश्य में देखते हैं। मान लो हम कृष्ण को इष्ट समझते हैं। मानो कृष्ण वृन्दावन में लीला कर रहे हैं और मैं वहाँ पर उनके सखा रूप में मौजूद हूँ और उनके साथ वार्तालाप कर रहा हूँ। वे मुझे जो करने को कह रहे हैं, वह कर रहा हूँ, जो कहने को कह रहे हैं, वही कह रहा हूँ, इस प्रकार खेल रहा हूँ। यह एक प्रकार का भाव-चिंतन लीलानुसंधान है। विदेशी इसे बाहर से करते हैं अर्थात् मनोवैज्ञानिक लोग इसका अनुसंधान करते हुए एक स्टेज बनाते हैं और सचमुच पाँच-सात बच्चों को इकट्ठा कर लेते हैं और फिर उनसे कहते हैं कि एक ऐसा नाटक करो; उस ढंग का नाटक निर्मित करके बाह्य जगत् में करवाते हैं। हमारे यहाँ बाह्य पर ज़ोर नहीं, अंदर ही अंदर भाव-साम्राज्य पर ज़ोर दिया गया है। सिद्धान्त एक ही है, चाहे अन्दर करो, चाहे बाहर करो। सम्भवतः इसका मूल कारण यह है कि जब बच्चा छोटा होता है तब उसका सोचना, पढ़ना सारा शरीर के साथ होता है। छोटा बच्चा किताब पढ़ेगा तो काफी जोर से बोलेगा, कुछ बड़ा होगा तो बुदबुदायेगा, और बड़ा होगा तो होठ हिलेंगे, आवाज नहीं आयेगी। और बड़ा होगा तो गले में स्पन्द होगा, बाकी किताब वैसे ही बाँच जायेगा। और बड़ा होता है तो उसे किसी अंग को हिलाने की जरूरत नहीं रहती, वह वैसे ही किताब बाँचता चला जाता है। इसी प्रकार कई लोगों को सड़क पर देखते होंगे; यहाँ बच्चे का मतलब उम्र से नहीं लेना; इसलिये

कई लोग सड़क पर चलते हुए अंगुली घुमायेंगे। समझ लो कि सोच रहे हैं और उनका सोचना मन में नहीं हो सकता। हम भी चलते हुए सोचते हैं लेकिन वह सोचने के लिये बाहर कुछ करने की जरूरत नहीं है। कई बार टेलीफोन पर पूछते हैं कि 'कैसे आयेंगे ?' कहते हैं कि इधर मुड़ जाना, उधर मुड़ जाना! हम कहते हैं–'इधर मायने क्या ? हमने देखा नहीं।' टेलीफोन पर 'इधर' कहने से कैसे पता चलेगा! जैसे-जैसे विकसित होते जाते हैं, वैसे-वैसे बाह्य चिह्न कम होते जायेंगे। विदेशियों ने भाव-साम्राज्य को प्रारम्भ किया है इसलिये बाहर का सहारा ज्यादा लेते हैं। हम लोगों ने भाव-साम्राज्य को मन के अन्दर करने का सहारा ज्यादा लिया।

आधारभूत सिद्धान्त या तत्त्व यही है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अपने को देखो। मानो प्रातःकाल उठे और आज चार काम बड़े करने हैं। एक बड़े आदमी से मिलने जाना है, किसी ग्राहक से मिलने जाना है। सास से मिलने जाना है। उन चीजों को अपने मन में स्पष्ट रूप से करो, रिहर्सल करते जाओ। हम वहाँ जाकर अपने व्यक्तित्व को प्रकट करना चाहते हैं, हम अपने किन भावों को वहाँ प्रकट करना चाहते हैं, उसे स्पष्ट रूप से दोहराओ, बार-बार उसे एनैक्ट करो। उसी प्रकार जीवन में जिन तत्त्वों को, जिन बातों को हम सबसे ज्यादा महत्त्व देते हैं, उन्हें प्रतिदिन सोचो। मान लो, हम अध्यापक हैं, प्रतिदिन हम सवेरे दस मिनट तक सोचें कि

अध्यापक के नाते हम समाज में क्या देना चाहते हैं और उस देने की कम से कम पाँच-सात क्रियायें भी बार-बार दोहराओ जो तुम्हें प्रत्येक परिस्थिति में पैदा करनी हैं। इससे धीरे-धीरे मन के अन्दर एक विकसित रूप आयेगा क्योंकि, जैसा पहले भी कहा था, मनुष्य संस्कारों के द्वारा चलने वाली चीज़ है। आदमी को मोटर चलाना सिखाते हैं तो उसकी परीक्षा करते हैं। बिना मतलब ही जब गाड़ी चलाते हैं तो परीक्षक कहता है रोको, जबकि सामने कुछ नहीं है। लेकिन परीक्षक यह इसलिये कहते हैं कि वह देखना चाहता है कि रोको कहने में और तुम्हारे ब्रेक लगाने में कितनी देरी होती है। चलाते-चलाते तुम्हारी प्रकृति ऐसी बन जाती है, सैकेण्ड नेचर बन जाती है, संस्कार दृढ हो जाते हैं कि तुम यह सोचो कि ब्रेक मारें, उससे पहले पैर ब्रेक मार लेते हैं। तीव्र गति से हवाई जहाज चलता है, साउण्ड बैरियर को पार करके १२०० मील की गति से चलता है, एक सैकण्ड में २० मील निकल जायेगा। यदि तुमने वहाँ क्रिया करने में एक सैकेण्ड की देरी की तो बीस मील का फर्क पड़ेगा! इसलिये वहाँ सोचकर निर्णय करोगे तो नहीं होगा, बल्कि उन परिस्थितियों का अभ्यास करते-करते ऐसा होना पड़ेगा कि अपने आप क्रिया हो जाये।

इसी प्रकार, जहाँ कहीं भी हम हैं, व्यापारी, शिक्षक, नौकरी करने वाले हो सकते हैं, उस परिस्थिति में हमें समाज को जो देना है वह अभ्यस्त हो जाना चाहिये। हम जब किसी व्रत को प्रकट

करना चाहें, उसका बार-बार प्रयोग करें तो धीरे-धीरे शक्ति बढ़ती जायेगी, स्फुट हो जायेगी और ऐसा अभ्यास होता जायेगा कि विपरीत परिस्थिति में हम वहाँ ठीक वैसी प्रतिक्रिया कर पायेंगे। इसे जब हम अपने जीवन में रखेंगे तो व्यक्तित्व विकसित होगा। अविकसित व्यक्तित्व वह होता है जो हर घटना के *बाद* बैठकर यह सोचे कि 'यदि मैंने ऐसा किया होता तो अच्छा था या ऐसा न किया होता तो अच्छा होता'। यह तुम्हारे हाथ में थर्मामीटर दे दिया जिससे पता लगे कि विकसित हो रहे हैं। जितना-जितना क्रिया करने के बाद तुम्हारे मन में संतोष का अनुभव हो कि 'मैंने ठीक किया, इससे अच्छा मैं नहीं कर सकता था', उतना तो समझना चाहिये कि विकास हो रहा है। जितना क्रिया करने के बाद में मन में आये, कि ऐसा करते या न करते तो बेहतर था, उतना ह्रास हो रहा है। जिसे हमारे यहाँ कहा जाता है 'पाछल बुद्धि ब्राह्मण' : ब्राह्मण को बुद्धि तब आती है जब घटना हो जाती है कि ऐसा न करके ऐसा कर लिया होता तो अच्छा था। ब्राह्मण में यह विकास कम हो पाता है, उसके कुछ कारण हैं, वह विषय यहाँ का नहीं है, बौद्धिक विकास वाला क्रिया में कम समर्थ होता है। यह द्वितीय साधन करने वाले के व्यक्तित्व में रहेगा। उसके जीवन में यह चीज धीरे-धीरे कम होती चली जायेगी, कार्य करने के बाद यह नहीं होगा कि ऐसा न करते तो अच्छा था या ऐसा करते तो अच्छा था क्योंकि उसने उसे बड़ी भली प्रकार अपने सामने रखकर देख लिया है।

इस साधन में एक चीज की सावधानी रखना क्योंकि ग़लती हो जाती है। हमको देखना है कि '*मैं* वहाँ क्या करूँगा'। लोग 'डे-ड्रीमिंग' (दिवास्वप्न) बनाते हैं कि *दूसरे* क्या करते हैं। बहुत से लोग सोचने लगते हैं कि मैं वहाँ जाकर क्या करूँगा, उनका दिमाग ज्यादा देर तक सोचता रहता है कि 'वे क्या कहेंगे तब मैं उसका क्या जवाब दूँगा ?' इससे व्यक्तित्व विकसित नहीं होता है। इससे व्यक्तित्व में द्वैधपना आ जाता है। बैठे-बैठे यह सोचना कि दूसरा क्या करेगा, व्यक्तित्व को आगे नहीं बढ़ाता, और पीछे ले जाता है। 'मैं वहाँ क्या करूँगा, मैं अपने आप को कैसे प्रकट करूँगा, अपने भावों को उस संदर्भ में मैं कैसे स्पष्ट करूँगा, प्रकट करूँगा,' इस पर विचार करना है। जैसे-जैसे यह होता जायेगा, वैसे-वैसे हर कार्य के बाद यह आयेगा कि जो मुझे करना था, वह मैंने किया। अब तक यह होता है कि हम वह फल देखते हैं कि दूसरे ने उसे क्या समझा; अब होगा कि जो मैं कर सकता था वह मैंने पूर्ण रूप से कर लिया। जैसे-जैसे यह विकसित होता जाता है, व्यक्तित्व में विकास आता है। दो साधन बताये—एक क्रियाप्रधान और दूसरा चिंतनप्रधान। भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों के लिये किस साधन को करने से व्यक्तित्व में पूर्णता आती है, इस पर आगे विचार करेंगे।

उद्देश्य

जब यह प्रवचनमाला प्रारंभ की थी तब दो बातें सामने रखी थीं—व्यक्तित्व और विकास। विकास में उद्देश्य को समझना जरूरी है। व्यक्तित्व के विषय में कुछ विचार हुआ। अब इस उद्देश्य के बारे में थोड़ा विचार करेंगे।

विकास एक भावात्मक (पाज़िटिव) शब्द है। भावात्मक शब्द से हमारा तात्पर्य एक ऐसा शब्द है जिसमें मूल्य निहित है अर्थात् एक 'व्हैल्यू जजमेण्ट' है। किसी भी चीज का जो परिवर्तन है, वह तो इन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है। एक चीज़ एक जगह पर है, वहाँ से दूसरी जगह पर पहुँच गई, इसका पता तो आँख से लग जायेगा। पहले आवाज़ धीमी थी, अब तेज़ हो गई, इसका पता कान से लग जायेगा। परिवर्तन इन्द्रियों से पता लगता है। इसलिये इसको कह सकते हैं कि यह एक ऐन्द्रिय-ज्ञान (सैन्शुअस पर्सैप्शन) है, प्रत्यक्ष ज्ञान है। लेकिन यह परिवर्तन अच्छा हुआ या बुरा हुआ, इसका पता इन्द्रियों से नहीं लगता। कान यह बताता है कि आवाज़ तेज़ हो गई या धीमी हो गई, लेकिन कान यह नहीं बता सकता कि अच्छा हुआ या बुरा। दो व्यक्ति बैठे हुए हैं, यह तो दोनों को पता लगता है कि आवाज़ तेज़ हो गई, लेकिन एक कहता है कि अच्छा हो गया और दूसरा कहता है बुरा हो गया। इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत बताते हैं। जब दिल्ली आश्रम बनाया तब वह ऐसी जगह थी जहाँ लोग कहते थे कि समय-बेसमय कोई कैसे इस मन्दिर में

आयेगा ? लेकिन महाराज जी को वह जगह पसंद आई कि शान्ति रहेगी, महात्मा आनंद से भजन करेंगे। इसलिये वहाँ इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान था कि उस समय वहाँ शान्ति थी और कोई कहते थे कि यह जगह ठीक नहीं, कोई कहता था ठीक है। अब दूसरा ऐन्द्रिय ज्ञान हुआ कि वहाँ पर रिंग रोड बन गई, पास में अंतर्राज्यीय (इण्टर स्टेट) बस अड्डा बन गया और वहाँ लोगों का आवागमन हो गया। यह परिवर्तन दोनों को दीखेगा। हम महात्मा लोग सोचते हैं कि अवनति हो गई, पहले कैसा शान्त वातावरण था, भगवद् भजन होता था, अब जब देखो तब एक ट्रक हार्न बजाता हुए निकल जाता है, महान् अशान्ति हो गई। दूसरे कहते हैं—महाराज! अब आश्रम की रौनक हो गई। तो जहाँ तक यह प्रश्न है कि शान्ति थी और हल्ल हो गया, इस विषय में तो ऐन्द्रिय ज्ञान है, इसलिये संदेह की जगह नहीं है। लेकिन शान्ति से हल्ले की तरफ जाना एक की दृष्टि में विक्षेप है और दूसरे की दृष्टि में रौनक है।

उसको भावात्मक शब्द कहते हैं जिसके अन्दर अर्हा (व्हैल्यू जजमेण्ट) निहित होती है। इसी प्रकार व्यक्तित्व के विकास पर विचार करते हैं तो यदि व्यक्तित्व का परिवर्तन मात्र इष्ट होता तब तो केवल परिवर्तन बताने से काम हो जाता लेकिन जहाँ *विकास* कहा, वहाँ तुरंत यह प्रश्न आ जाता है कि कौनसी वह अर्हा है,

कौनसा वह मूल्य है जिसके आधार पर यह निश्चित किया जायेगा कि यहाँ विकास हो रहा है या अवनति हो रही है अर्थात् पीछे जा रहे हैं ? इसलिये उद्देश्य का विचार करना जरूरी हो जाता है। कौनसा ऐसा उद्देश्य रखा जाये जो सब दृष्टियों से मनुष्य के हृदय को स्पर्श कर सके ?

विश्व ब्रह्माण्ड के ऊपर हमारे ऋषि-महर्षियों ने एक बड़ी सूक्ष्म दृष्टि डाली और उन्होंने पाया कि हर चीज़ का अंतिम परिणाम कहाँ पहुँचता है ? उन्होंने देखा कि जो चीज़ जहाँ से बढ़ती है, अंत में वहीं पहुँचती है। मिट्टी, हवा के द्वारा जमीन से उठी है तो चारों तरफ से घूम-घामकर फिर जमीन पर ही आ जाती है। यदि पानी बादल बनकर समुद्र से ऊपर उठा है तो घूम-घामकर अंत में बहते हुए समुद्र में पहुँच जाता है। इसी प्रकार से व्यक्तित्व के विकास का विचार करते हुए यह देखना पड़ेगा कि यह व्यक्तित्व शुरू कहाँ से हुआ ? फिर मालूम पड़ जायेगा कि यदि वहीं वापिस पहुँच जाये तो विकास हुआ और जब तक वहाँ नहीं पहुँचे, तब तक अविकसित है। व्यक्ति कहाँ से चला था—यह पहले बता आये हैं। जैसे अग्नि से चिन्गारी निकलती है, वैसे ही यह जीव परमात्मा में से निकला। यहाँ से व्यक्तित्व प्रारंभ हुआ। इसलिये इसका अंतिम परिणाम, अंतिम विकास की अवस्था वही होगी जिसके अन्दर पुनः वह उस परमात्मा के साथ एक हो जाये अर्थात् जिस परमात्मा से

यह बाहर निकला है, उसी परमात्मा में जब पुनः प्रविष्ट हो जायेगा तब कहेंगे कि इसका व्यक्तित्व पूर्ण विकसित हो गया क्योंकि जहाँ से निकला था, वहाँ पुनः पहुँच गया। प्रारंभ होता है विभाजन से जिसे अंग्रेजी में 'डिफ्रेन्शियेशन' कहते हैं, एक चीज़ दूसरी चीज़ से अलग होती है। जितना-जितना अलग होती चली जाती है उतना-उतना बाहर की तरफ का प्रवाह होता है। अब उस अलगाव को छोड़कर जब एक की तरफ बढ़ेगा, तब समझेंगे कि वह पुनः अपने मूल स्रोत की ओर जा रहा है। जो अर्हा (मूल्य या व्हैल्यू) की दृष्टि है, वह हमारे यहाँ एकत्व है। जितना-जितना एकता की तरफ व्यक्ति जायेगा, उतना ही उतना उन्नत माना जायेगा।

लेकिन एकता का मतलब क्या है ? इसमें कुछ लोग कभी-कभी गड़बड़ी कर जाते हैं। उपनिषदों ने एक के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग किया है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' संसार में सब कुछ आत्मा के लिये प्रिय होता है। यदि आत्मा का अर्थ यहाँ पर ठीक प्रकार से न समझा गया तो इसका मतलब हो जायेगा कि अपने शरीर, मन को खूब सुख पहुँचाओ क्योंकि अपने लिये ही तो सब प्रिय है! अर्थात् यह मंत्र किसी को महान् घोर स्वार्थ के अन्दर भी ले जा सकता है, यदि आत्मा के अर्थ को नहीं समझा। उपनिषदों में आत्मा का अर्थ प्रायः जीवात्मा नहीं है बल्कि आत्मा का अर्थ परमात्मा है जो प्राणिमात्र के हृदय में विद्यमान है। 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'; एक भूत के हृदय में रहने वाला यह

आत्मा नहीं है। सारे प्राणियों के हृदय में रहने वाला जो है, वह आत्मा है। इसलिये जब कहते हैं 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' तब उसे कभी भी एक शरीर या एक मन के संघात वाला आत्मा नहीं समझ लेना, बल्कि सारे प्राणियों के हृदय में रहने वाले आत्मा अर्थात् परमात्मा के लिये ही सब चीज़ें प्रिय लगती हैं। अतः परमात्मा के सम्बन्ध से शून्य हो जाने पर वही उपनिषद् दूसरी जगह कहती है 'प्रियं त्वां रोत्स्यसि इति'। एक तरफ कहा—सब कुछ परमात्मा के लिये प्रिय होता है और दूसरी तरफ कहा कि जो प्रिय होता है वह रुलाता है! तो क्या प्रिय परमात्मा रुलाता है ? 'प्रियं त्वां' का मतलब है कि परमात्मा को छोड़कर जिस चीज़ में प्रिय दृष्टि करोगे वह रुलायेगी, परमात्मदृष्टि से जो भी करोगे, वह प्रियदाता अर्थात् सुखदाता हो जायेगा।

आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था में एकता का मतलब यह नहीं है कि हम एक शरीर या मन के संघात को लेकर बैठ जायें और कहें कि एकता की प्राप्ति हो गई। बल्कि समग्र सृष्टि के साथ हमारा ऐसा तादात्म्य बोध हो जाये कि जहाँ कहीं किसी भी प्रकार की घटना हो रही है, वह मुझे अपने अन्दर, अपने साथ वैसी ही प्रतीत हो जैसी इस शरीर की घटनाओं की प्रतीति है। यदि इस शरीर के फोड़े से मैं विचलित नहीं होता हूँ तो किसी के फोड़े से विचलित नहीं होऊँगा। यदि इस शरीर के फोड़े से विचलित होता हूँ तो किसी भी प्राणी के फोड़े से मेरे अन्दर विचलितपना

आ जायेगा। यह जो एकात्मानुभूति है, इसकी पूर्णता जितनी-जितनी नजदीक आयेगी, उतना-उतना विकास मना जायेगा और जितना इससे दूर होते जायेंगे, उतना विकास नहीं, अवनति मानी जायेगी। यह एकात्मबोध ही वस्तुत: हमारे विकास की चरम सीमा हुई।

यह कब हो ? सबसे पहली चीज़ समझने की यह है कि हमारे अन्दर में ही बड़ा संघर्ष बैठा हुआ है। उपनिषदों में कई कथायें आती हैं जिसे बहुत से लोग आजकल के ज़माने में हँसी समझते हैं। जैसे एक कथा आती है कि आँख, कान, नाक लड़ने लगे कि हम सबमें श्रेष्ठ कौन है। सब चलकर प्रजापति ब्रह्मा के पास गये कि आप बताओ कि हम सबमें अच्छा कौन है ? प्रजापति ब्रह्मा ने सोचा कि मैं जिसे अच्छा बताऊँगा, वह एक राजी हो जायेगा, बाकी रूठ जायेंगे। ब्रह्माजी तो सृष्टि को करने वाले हैं, इसलिये उन्होंने सोचा कि बहुत से लोग रूठ जायेंगे, यह ठीक नहीं। जैसे आजकल के मंत्री समझते हैं कि बहुत से संसद-सदस्य रूठ जायेंगे तो ठीक नहीं। इसी प्रकार उनके मन में शंका हुई तो उन्होंने इसका निर्णय अपने ऊपर न छोड़कर उन लोगों से कहा कि 'तुम एक-एक करके शरीर से चले जाओ और साल भर घूम आओ। जिसके जाने से यह शरीर सबसे ज़्यादा दु:खी हो, समझ लेना कि वही सबसे बड़ा है।' आँख को बड़ा घमण्ड था। साल भर के लिये चली गई। वापिस आकर देखा कि वैसा का वैसा तगड़ा है, मुर्दा नहीं

है। चुपचाप बैठ गई और पूछा कि 'मेरे बिना कैसी रही ?' कहा– 'जैसे अंधों की चलती है, वैसी चली।' कान जाकर वापिस आया तो उसने देखा कि वैसा का वैसा है। कहा–'जैसे बहरों की चलती है, वैसी मेरी चली।' इसी प्रकार एक-एक इन्द्रिय गई और वापिस आकर देखा कि वैसा का वैसा है। अंत में सबसे बड़ा घमण्डी मन था, उसने सोचा कि मेरे बिना यह ज़रूर मर जायेगा। वह भी साल भर घूम आया। आकर देखा कि पहले से भी ज़्यादा तगड़ा हो गया है! पूछा, 'गजब हो गया, मेरे बिना कैसे रहा ?' कहा–'जैसे पागल रहता है'। इसीलिये तगड़ा हो गया, क्योंकि पागल को चिंता नहीं होती। अब जब प्राण बाहर निकलने लगे तब आँख, कान, नाक सब पहले ही खिंचने लगे। उन सबने प्राणों से प्रार्थना की कि 'आप मत जाइये'।

ऐसी कथाओं में लोगों को कई बार संदेह होता है कि ये आँख, कान, नाक कैसे बातचीत या झगड़ा करते थे ? लेकिन अपने जीवन में देखो तो पता लगने लगता है कि आँख कहीं ले जाना चाहती है, कान कहीं ले जाना चाहता है। आदमी कहीं चित्रकला प्रदर्शनी (पेंटिंग्स एग्ज़िबिशन) देखने के लिये गया हुआ है। आँख कह रही है, सामने सुन्दर चित्र है, उसी समय कोई बगल में कह रहा है 'अरे सुनो, बड़े भारी काण्ड का उद्घाटन हुआ है, अमुक करोड़पति के घर छापा पड़ गया है'। आँख चित्र को देखना चाहती

है, कान कहता है 'यह फिर देख लूँगा, पहले गासिप (गप्प) सुनो, पता लगाओ कि किसके घर क्या हुआ'। यहाँ दोनों का संघर्ष हुआ, इसी को उपनिषदों ने कलात्मक ढंग से कह दिया। कहने को हम कहते हैं कि हम एक हैं लेकिन इस शरीर में भी हमारी एकात्मता पूर्ण नहीं है। पेट कहता है कि हमको अम्लाधिक्य हो गया है, जबान कहती है—'होने दो, मैं तो गोल गप्पे खाये बिना नहीं रहने वाली हूँ, तुम तड़पा करो।' हमारी इन्द्रियों में एकता नहीं, हमारे मन और बुद्धि में ऐक्य नहीं। बुद्धि के निर्णय को मन मानने के लिये तैयार नहीं और बुद्धि कहती है कि मन की बात कैसे मान लूँ ? दूध में मक्खी पड़ी हुई दीख रही है, तुम कहते हो इलायची मानकर पी लो तो कैसे पी लूँ ? मन बुद्धि से कहता है कि 'धर्म-अधर्म का विवेक जाने दो, इसलिये जो तुरंत फायदे की चीज लग रही है, उसे मान लो और पड़ी हुई मक्खी निगल लो।' बुद्धि कहती है कि 'दीखती हुई चीज़ कैसे निगल लूँ ?'

आत्मैक्य तो जाने दो, सबसे पहला कदम है कि स्वयं हमारा यह जो कार्य-करण संघात है, हमारा जो शरीर, मन, इन्द्रियाँ हैं, इनके अन्दर एकात्मता आये। इंटिग्रेटेड पर्सनेलिटी पहला कदम है। जब तक यह एकात्मता नहीं आयेगी, तब तक उन्नति सम्भव नहीं है। लेकिन यहाँ अंत नहीं है। हम लोगों का पहला आदर्श देह में, कार्य-करण संघात में एकात्मता को प्राप्त करना है। यह प्राप्त

करने के बाद समष्टि के साथ एकता को प्राप्त करना है। पहले अपने साथ ऐक्य, फिर उसके बाद समग्र समाज के साथ ऐक्य, अर्थात् हमारी इंटिग्रेटेड पर्सनेलिटी सोशली इंटिग्रेटेड होनी चाहिये। सोसाइटी, समाज का अर्थ बताया। समाज नाम भीड़ का नहीं है। एक उद्देश्य से जहाँ लोग चलते हैं, उसी का नाम समाज है। जो फर्क भीड़ और पलटन में है, वही फर्क यहाँ है। कभी चाँदनी चौक में पहुँच जाओ और अकस्मात् पीछे मुड़कर चलना चाहो तो नहीं चल सकते या कभी कुंभ मेले में जाओ और गलत मुड़ जाओ, फिर चाहो कि दायें मुड़ना था, तो नहीं मुड़ सकते क्योंकि मुड़ने के पहले ही भीड़ धक्का दे देगी। इसका नाम भीड़ है। पलटन भी चलती है, लेकिन पलटन में संग्रथन है, एकात्मता है, भीड़ में वह नहीं है।

समाज का मतलब आदमियों की भीड़-भाड़ नहीं लेना। संग्रथित होकर, एक उद्देश्य से प्रेरित होकर जो चलना है, उसी का नाम समाज है। अज धातु का अर्थ गमन होता है अर्थात् हमेशा चलते रहना। इसी कारण बकरी को अजा कहते हैं। 'अजति गच्छति', 'आ समंतात्' अर्थात जहाँ सम्यक् रूप से चारों तरफ से घूमकर लोग एक उद्देश्य से प्रेरित होंगे, उसे समाज कहेंगे। आज व्यक्ति की समाज के साथ एकात्मता नहीं। समाज के रूप को गलत समझने के कारण कई बार लोग कहते हैं कि महाराज! हम अमुक बुरा काम नहीं करना चाहते लेकिन क्या करें, समाज के नियमों के कारण

करना पड़ता है। सोशल ड्रिंकिंग बुरी चीज है। बहुत से लोग कहते हैं कि शराब पीने की इच्छा नहीं रहती लेकिन सोसाइटी में थोड़ा ले लेते हैं। उनसे आगे पूछो कि तुम्हारी इच्छा नहीं और उनकी इच्छा है तो तुम दोनों का समाज कैसे हो गया ? इसलिये पहले अपने अंदर एकात्मता और फिर उसके बाद समाज अर्थात् एक उद्देश्य से अनुप्राणित लोगों के साथ एकात्मता और फिर धीरे-धीरे उसके आगे बढ़ा जाता है।

कुछ मामलों में तो हम धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं और कुछ मामलों में हम एकदम कूदना चाहते हैं! जैसे अगर हम विचार कर रहे हैं कि अपने सनातन धर्मी ऐसा करें, तो लोग हमसे झट पूछते हैं कि खाली सनातन धर्म में सीमित क्यों, उसमें मानवमात्र, हिन्दू-मुसलमान-ईसाई सबका प्रवेश क्यों नहीं ? हम उनसे कहते हैं कि एक देश की रक्षा के लिये फौज क्यों बनाते हैं, सारे संसार की रक्षा के लिये फौज क्यों नहीं बनाते ? तब कहते हैं कि हम तो अपने ही देश के लिये सोच सकते हैं। औद्योगिक विकास के लिये अपने देश को सोचते हैं, सारे देशों की नहीं सोचते। जैसे यह विभाजन, वैसे ही सनातन धर्मियों के कल्याण के लिये हम कुछ करते हैं तो यह मतलब नहीं कि हमको दूसरों से झगड़ा है। जैसे क्षेत्र को, राष्ट्रों को सीमित करना पड़ता है वैसे ही धर्म की परिधियाँ हैं। अध्यात्म मार्ग में हम लोग तो स्वर्ग लोक तक विचार करने को तैयार हैं लेकिन कार्य रूप में परिणत करने के लिये परिधि में क्रिया करनी पड़ेगी।

इस प्रकार जब कहते हैं कि तुम्हारा एक दृष्टिकोण शराब न पीने का और दूसरे का दृष्टिकोण पीने का तो तुम दोनों का समाज कैसे ? तब लोग कहते हैं कि 'ऐसे सबको छोड़ने से थोड़े ही काम होता है, सबका संग्रह करके चलना पड़ता है।' हम कहते हैं कि पहले न पीने वाले के साथ आत्मैक्य कर लो, फिर पीने वाले के साथ कर लेना। धीरे-धीरे छोटे-छोटे क्षेत्र में पहले ऐक्य लाना पड़ता है, तब बड़े क्षेत्र में सच्चा ऐक्य आ सकता है, नहीं तो ऐक्य नहीं आ पाता। हमारे यहाँ प्राचीन काल में सबसे छोटा केन्द्र कुल था। इसलिये धर्म की सबसे सीमित परिधि को कुल धर्म कहते थे। पहले कुलधर्मों को अच्छी प्रकार से अपने जीवन में ले आओ फिर आगे दूसरे धर्मों को देखा जायेगा—यह एक दृष्टिकोण था। यह आत्मैक्य लाना ही हमारे सामने विकास हो गया।

इतना याद रखना कि जितना-जितना आत्मैक्य आयेगा, उतनी-उतनी अशान्ति दूर होगी। क्योंकि अशान्ति का कारण विभक्तता होती है। यदि हमारी आँख भी चित्र को देखना चाहती है और कान भी कुछ नहीं सुनना चाहता, तब तो चित्त एकाग्र हो जायेगा। यदि कान सुनना चाहता है और आँख देखना चाहती है तो अशान्ति हो जायेगी। इसी प्रकार मन जिस चीज़ को अच्छा समझता है, बुद्धि भी उसी को कल्याणकारी समझेगी तो अशान्ति नहीं होगी। लेकिन मन जिसे प्रिय समझता है, बुद्धि उसे अकल्याणकारी समझेगी तो अशान्ति हो जायेगी। जैसे-जैसे आत्मैक्य आता चला जायेगा, वैसे-वैसे

अशान्ति दूर होती चली जायेगी। अशांत व्यक्ति ही सबसे खतरनाक व्यक्ति होता है। यद्यपि आज कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अशान्ति कोई अच्छी चीज होगी! कुछ लोगों को ऐसा लगता है और वे यह मानते हैं कि अशान्ति से मनुष्य प्रगति की ओर जाता है। लेकिन विचार करो, प्रगति के अन्दर यदि अशांति से जाओगे तो कार्य में कारण के गुण का अनुवर्तन होना ही है। यदि धागा सफेद है और उससे कपड़ा बनाओगे तो सफेद कपड़ा बनेगा और यदि धागा लाल है तो अससे कपड़ा बनाने पर लाल कपड़ा बनेगा। काली मिट्टी से सुराही बनाओ तो काली बनेगी और लाल मिट्टी से बनाओ तो लाल सुराही बनेगी। कारण के गुण कार्य में अनुवृत्त होते चले जायेंगे। इसी प्रकार यदि अशान्ति के ताने-बाने से कुछ बुनोगे तो अशान्ति ही रहेगी। इसका मोटा दृष्टांत है कि हमने अंग्रेजों को तो सत्याग्रह करके, हड़ताल करके और उनपर दोष मढ़कर निकाला। स्वतंत्रता का कारण ये सब गुण हैं। इन कारण गुणों से कार्य हो गया तो आज भी हम उन्हीं चीज़ों को कर रहे हैं। सत्याग्रह और हड़ताल हमें करनी हैं और सारा दोष सरकार पर डालना है। इसलिये, यदि अशांति के ताने-बाने से हम कुछ भी बुनेंगे तो अशांति ही होगी, शांति नहीं हो सकती। इसलिये जो अशांति को प्रगति या उन्नति का कारण मानते हैं वे यह सीधा-सादा नियम भूल जाते हैं कि कारण के गुण कार्य में अनुवृत्त होते हैं।

जब हमारे व्यक्तित्व के अन्दर संग्रथन (इंटिग्रेटी) होगा तब हम स्वयं शांत होंगे। इसलिये उससे बनने वाले समाज का वही

ताना-बाना होगा और उससे जो समाज उत्पन्न होगा, वह भी शांत होगा। अशांत आदमी भयंकर होता है और बड़ा खतरनाक होता है क्योंकि संसार में सबसे भयंकर चीज़ अशांति है। आदमी भूखा रह सकता है, इसे यदि रोटी न मिले तो रह सकता है, बिना कपड़े के आदमी रह सकता है लेकिन बिना शान्ति के नहीं रह सकता। जहाँ अशांति होगी, वहाँ बढ़िया भोजन और बढ़िया कपड़ा भी हो तो उसे ऐसा लगेगा कि किसी भयंकर कढ़ाई में पड़े हुए हैं। चूँकि अशांति से अधिक और कोई दुःख नहीं है, इसलिये वह समाज का बड़े से बड़ा नुकसान कर गुजरेगा क्योंकि उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है! हिन्दी भाषा में कहते हैं 'नंगा खुदा से चंगा', जो आदमी नंगा हो गया, उसे शरम नहीं। उसने तो बड़ी से बड़ी बुराई कर ली, नंगा ही हो गया, अब आगे उसका क्या करोगे ? उस व्यक्ति को चाहो कि तुम किसी भय से सुधार लो, तो नहीं सुधार सकते क्योंकि भय से जो कष्ट हो सकता है, वह तो उसे है ही, उससे ज़्यादा कष्ट उसे नहीं दे सकते हो। रूस में एक बड़े भारी लेखक लियो टाल्स्टाय हुए हैं। उनकी पत्नी ने उन्हें इतना दुःखी किया कि घर छोड़कर भाग गये! संसार के सबसे बड़े लेखकों में उनका नाम है और गांधी जी उन्हें अपना आदर्श मानते थे। अफ्रीका में एक भवन का नाम ही टाल्सटाय भवन रख दिया। वे अंत में रेल के डिब्बे में मरे पाये गये। उस समय उनकी जेब में से चिट्ठी

निकली जिसमें लिखा था कि मेरी लाश को मेरी औरत को हाथ मत लगाने देना, देखने भी मत देना।' अशांति में मनुष्य घर को छोड़ देता है, अपने सारे सुख को छोड़ देता है। जो व्यक्ति पहले ही अशांत है, वह इसलिये भयंकर है कि वह तुम्हारा बड़े से बड़ा नुकसान करने में नहीं डरेगा। तुम ज़्यादा से ज़्यादा किसी को अशांत कर सकते हो, वह तो वह पहले ही है।

जब मनुष्य संग्रथित होता है तब वह सबसे पहला प्रयत्न यह करता है कि जहाँ-जहाँ अशांति है, वहाँ शान्ति आये। व्यक्तित्व के विकास के सोपानों को बताते हुए संस्कृत में एक श्लोक है

'दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनश्शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्॥'

कैसे पता लगे कि हमारा विकास हो रहा है ? इसमें तीन क्रम बताये। दुर्जन सज्जन बने। दुर्जन का मतलब होता है जो अपने लाभ के लिये दूसरों को नुकसान पहुँचाये। उससे भी एक भयंकर जाति है लेकिन उसके लिये संस्कृत भाषा में कोई शब्द नहीं है। वह जाति अपना नुकसान करके भी दूसरे का नुकसान करती है। महाराजा भर्तृहरि सबसे बड़े वैयाकरण हुए हैं। उन्होंने भी संस्कृत भाषा के सारे व्याकरण को जानने के बाद लिखा कि जो अपना नुकसान करके भी दूसरे का नुकसान करता है, उसके लिये संस्कृत में मुझे कोई शब्द नहीं मिला 'ते के न जानीमहे'। ऐसे लोग भी होते हैं जिनकी इच्छा होती है कि चाहे अपना नुकसान हो जाये, दूसरे का ज़रूर होना चाहिये।

एक महात्मा की कथा आती है—एक आदमी गाँव में सबसे दुर्जनता का व्यवहार करता था। अंत में सब उसके विरोधी हो गये। उसे गाँव से निकाल दिया। वह जंगल में चला गया। उधर से कोई महात्मा निकले, उससे पूछा—'यहाँ क्यों खड़ा है ?' उसने कहा—'मैं यहाँ इसलिये खड़ा हूँ कि मेरे को शेर खा जाये।' महात्मा ने सोचा कि घर वाली ने चाय नहीं पिलाई होगी। उससे कहा—'ऐसा क्यों कहता है, संसार में सबसे अच्छी चीज़ प्राण है। यह बता कि तेरे को क्या दुःख है ?' उसने कहा—'कोई दुःख नहीं, मेरी यह इच्छा है कि मुझे शेर खा जाये। क्योंकि जब शेर मेरे को खा जायेगा तो वह नरभक्षी (मैन-ईटर) होकर गाँव के लोगों को खाता रहेगा।' इसलिये महाराजा भर्तृहरि ने कहा 'ते के न जानीमहे'। उनके विकास का तो यहाँ इस श्लोक में वर्णन नहीं है। दुर्जन वह है जो अपने लाभ के लिये दूसरे की हानि करे।

सज्जन वह है जो दूसरे के लाभ के लिये अपनी हानि करे। यह दुर्जन और सज्जन का फर्क है। पहली विकास की सीढ़ी यह है कि जब हमारे हर कार्य में यह दृष्टि बनने लगे कि हमारा थोड़ा नुकसान हो गया तो कोई बात नहीं, सामने वाले का फायदा हो गया। 'सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्' सज्जन होने पर वह व्यक्ति शान्ति को प्राप्त करे। आत्मैक्य से अपने अन्दर वाले कार्य-करण संघात एवं अपने साथ होने वाले समाज के साथ एकात्मता के बोध को उत्पन्न करे, तब शान्ति आती है।

जब शान्ति आती है तब 'शांतो मुच्येत बंधेभ्य:' मनुष्य अज्ञान का बंधन काटने का प्रयत्न करे। शांति हो तभी बन्धन काट सकता है, नहीं तो नहीं काट सकता। जिसके हृदय में शान्ति ही नहीं है, वह तो अपनी अशान्ति हटाने का प्रयत्न करेगा। जगत् का जो आदि कारण अज्ञान है, उसके नाश के लिये उसकी प्रवृत्ति हो सके, यह असम्भव है, कभी नहीं हो सकता। बन्धन से निवृत्ति एक नई चीज़ की प्राप्ति है। जैसे पहले शरीर का रोग हटता है, तब शरीर की पुष्टि आनी शुरू होती है। बुखार आ रहा है, पहले बुखार बन्द होगा, तब शरीर के अन्दर ताकत आनी शुरू होगी। ऐसा तो नहीं कि हमारा रोग तो चल ही रहा है, पर शरीर हमारा तगड़ा हो जाये! यह नहीं हो सकता। शरीर मोटा हो सकता है, बादी से फूल सकता है, तगड़ा नहीं हो सकता। जब शरीर का रोग दूर हो गया, तभी ताकत आनी सम्भव है। उस समय मकरध्वज या टानिक, जो चाहो सो खिलाओ। इसी प्रकार जब तक अशान्ति का रोग लगा हुआ है, तब तक आत्मा में स्थिति रूपी स्वस्थता की प्राप्ति नहीं हो सकती। पहले अशान्ति का रोग हटाओगे, तब आगे बढ़ सकोगे। 'शान्तो दांत उपरतस्तितिक्षुस्समाहिता: आत्मनि आत्मानं पश्येत्'। शान्ति आदमी में तभी सम्भव है जब शम, दम, उपरति तितिक्षा की प्राप्ति हो जाये। 'शांतो मुच्येत बन्धेभ्य:' यह व्यक्तित्व की समग्र संसार के साथ एकात्मता है। यह जो भेद का पर्दा पड़ा

हुआ है, यह तभी हम दूर कर सकेंगे और उस आत्मैक्य की प्राप्ति कर सकेंगे जब हम शान्त हों। जैसा पहले बताया, सब प्राणियों में रहने वाला अहमात्मा है, जब उसे प्राप्त कर लिया, तभी वह दूसरे को उसके बंधन से छुड़ाने के लिये प्रवृत्त कर सकता है।

यहाँ १५-१६ साल पहले कर्नाटक (दक्षिण) के व्यक्ति आये, हमसे बात करते रहे। कहा—'स्वामी जी! हमें अपने विद्यालय में एक महीने के लिये ठहर जाने दीजिये, भोजन की व्यवस्था कर दीजिये।' हमने पूछा—'क्या करोगे ?' कहा—'अर्थशास्त्र पर एक ग्रंथ लिख रहा हूँ जिससे समग्र भारत की गरीबी दूर हो जायेगी।' हमने उसे ऊपर से नीचे देखा कि पैण्ट फटी है, कमीज भी ऐसी ही है। हमने कहा—'पहले अपनी गरीबी क्यों नहीं हटाते ? जो नुस्खा तुम्हारी एक की गरीबी नहीं हटा सका, वह संसार की क्या हटायेगा ?'

इसी प्रकार, आज हर व्यक्ति दूसरे की मदद करने को तैयार है, पर हम खुद अपनी मदद नहीं कर सकते, अपने हाथों पर नियंत्रण नहीं कर सकते! कहते हैं—'अमरीका वाले वियतनाम में बम फेंक कर बुरा काम कर रहे हैं।' तुम अपनी जबान पत्नी पर छोड़ते हो; उनके पास बम हैं तो वह छोड़ते हैं; फर्क क्या है ?

जब तक हम बंधन से स्वयं मुक्त नहीं होंगे, तब तक हम दूसरे को मुक्त कैसे करेंगे ? यह व्यक्तित्व के विकास की सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ी से चढ़ने पर हमारे सामने आदर्श स्फुट होगा। इस दृष्टि

से हमें आगे जाना है, यह गन्तव्य बिल्कुल प्रत्यक्ष रहेगा। लेकिन दुर्जन की अवस्था से एक दम आगे का पहाड़ा नहीं रटना! पहले दुर्जन से सज्जन बनो। धीरे-धीरे कदम उठाने वाला अंतिम आदर्श तक पहुँच जाता है और जल्दीबाजी करने वाला कहीं नहीं पहुँचता। हमारे यहाँ महात्माओं में प्रसिद्धि है कि थोड़ा-थोड़ा पढ़ने वाला पण्डित बन जाता है, ज़्यादा पढ़ने वाला मूर्ख बन जाता है। पहले हम सोचते थे कि अतिशयोक्ति होगी, लेकिन अब हम बच्चों की किताबों को देखते हैं कि आठ साल का लड़का ११ किताबें लेकर स्कूल जाता है, बहुत पढ़ता है। वह बी. ए. पास हो जाता है तो उससे कहते हैं कि इस पत्र का जवाब लिखना। वह एक वाक्य शुद्ध नहीं लिख सकता! हमने समझ लिया कि वह अतिशयोक्ति नहीं, ठीक ही कहते हैं। यह ज़्यादा पढ़ा है। पहले जब एक नैसफील्ड की व्याकरण पढ़ते थे तब ठीक लिखते थे। इसका कारण है कि थोड़ा पढ़ने पर अन्दर प्रविष्ट होता है और अधिक-अधिक पढ़ने पर वह अन्दर प्रविष्ट नहीं होता। वह प्रविष्ट नहीं होता तो उसका जो नतीजा निकलना चाहिये, वह नहीं निकल पाता।

दुर्जनता से सज्जनता, शान्ति, बन्धन-निवृत्ति, दूसरों को मोक्ष की प्राप्ति कराना—इन क़दमों को रखते हुए आगे बढ़ेंगे। आत्मैक्य की दृष्टि के लिये मन, बुद्धि, इन्द्रियों में एकता की प्राप्ति करनी होगी फिर अपने कुटुम्ब में आत्मैक्य की भावना लानी होगी, जब

धीरे-धीरे इस ओर हम विकसित होते चले जायेंगे तो अंत में आदर्श यही है कि अनंत कोटि ब्रह्माण्डों के साथ ऐक्य हो जायेगा। जिससे टूट कर अलग हुए थे, पुनः उस परमात्मा के साथ एक हो जायेंगे। पता नहीं रहेगा कि मैं की सीमा कहाँ खत्म होती है और हम की सीमा कहाँ से शुरू होती है। युष्मद्-अस्मद् का भेद सर्वथा नष्ट हो जायेगा। व्यक्तित्व के विकास में इस चरम पूर्ति को सामने रखते हुए और फिर छोटे-छोटे पड़ाव को सामने रखते हुए हम आगे बढ़ पायेंगे।

स्वतन्त्रता

व्यक्तित्व के विकास का विचार प्रारम्भ करते हुए पहले बताया कि व्यक्तित्व क्या है ? व्यक्त मायने प्रकट होना अर्थात् बाहर दीखना। इसलिये व्यक्तित्व का मतलब होता है जो बाहर प्रकट होता है अर्थात् जो तुम्हारे व्यवहार में मैनिफैस्ट होता है। वह व्यक्तित्व कितने केन्द्रों में अपने आपको प्रकट करता है ? पहले मैं में प्रकट होता है, फिर मन में प्रकट होता है, मन से इन्द्रियों में प्रकट होता है फिर शरीर में प्रकट होता है और फिर शरीर द्वारा बाहर सारे समाज में जो क्रिया होती है, वहाँ प्रकट होता है। इन सबमें सबसे पहले मूल रूप से प्रकट होने का केन्द्र मैं है। इसीलिये मैं के तत्त्व पर कुछ विचार किया। यदि उस केन्द्र के अन्दर हम नियंत्रण कर लें तब तो आगे के व्यक्तित्व अर्थात् आगे के प्रकट होने में सरलता हो जाये। और यदि वहाँ (विकार) खराबी आ गई तो आगे रोकना मुश्किल हो जाता है। इसीलिये उसके ऊपर विस्तृत विचार करना आवश्यक हुआ। और उस मैं की भावनाओं को कैसे दृढ किया जाये, किस उद्देश्य से किया जाये ? — यह भी बताया, क्योंकि उद्देश्य को लेकर ही विकास बनता है।

वस्तुतः इस विश्व के अन्दर यही एक तत्त्व ऐसा है जिसमें स्वतंत्रता निहित है। थोड़ी विचार की बात बतायेंगे। हमारे शरीर के निश्चित नियम हैं। चिकित्सक (डाक्टर) बता सकता है कि शरीर के अन्दर ऐसे-ऐसे नियमों से घटनायें होती हैं। बाह्य जगत्

के नियम भी निश्चित हैं, मन के नियम भी निश्चित हैं। इस-इस प्रकार की घटना से मन पर ऐसा-ऐसा असर पड़ता है, उससे यह-यह विकार पैदा होते हैं। इसलिये बाह्य जगत् शरीर और मन तक जो कुछ भी है, वह सब नियमों के परतंत्र है, नियमों के अधीन है। इसलिए मनुष्य की बहुत बार भावना बन जाती है कि हम सर्वथा परतंत्र हैं, हम सर्वथा नियमों के अधीन हैं, हम कुछ नहीं कर सकते।

इसके अनेक रूप हो जाते हैं। कोई कहता है यह अधीनता समय की है। साम्यवादी लोगों का यह कहना है कि हर चीज़ समय पर होती है और समय के अनुसार होती है, कोई कुछ नहीं कर सकता। कुछ लोग कहते हैं, ऐसा नहीं, बल्कि गर्मी के मौसम में भी नर्सरी के अन्दर ठण्डक पैदा करके सर्दी के पौधे उत्पन्न हो सकते हैं और सर्दी में गर्म नर्सरी (हाट नर्सरी) के अन्दर गर्मी के पौधे पैदा कर सकते हैं। इसलिए वह कहता है कि समय की पराधीनता नहीं, स्वभाव की पराधीनता है। हर चीज़ का अपना स्वभाव है, वैसी परिस्थिति पैदा कर दो। इसलिये सब कुछ स्वभाव के अधीन है। कुछ लोग कहते हैं कि समय और स्वभाव दोनों बदलते देखे जाते हैं। एक आदमी का आज एक स्वभाव रहता है, दस साल के बाद कुछ और हो जाता है। कोई आदमी जवानी में बड़ा क्रोधी होता है लेकिन बुढ़ापे में वह इतना मुलायम हो जाता है कि यदि कोई कहे कि यह जवानी में शेर की तरह गरजता था तो कोई विश्वास नहीं कर सकता। दूसरी तरफ कुछ लोग जवानी में

बड़े मुलायम होते हैं, बड़ा मीठा व्यवहार करते हैं। दिखावा नहीं, हृदय से ही मीठा व्यवहार करते हैं। लेकिन जैसे-जैसे बुढ़ापा आता है चिड़चिड़े हो जाते हैं और अंत में बुढ़ापे में शरीर नहीं चलता लेकिन जबान ऐसी चलती है जैसे लकड़ी काटने की मशीन ! इसलिये नियम से नहीं कह सकते कि बुढ़ापे से शान्ति आयेगी या युवापने से शान्ति आयेगी। इसलिये कहते हैं कि काल और स्वभाव कुछ नहीं बल्कि मनुष्य की नियति ही सब कुछ कराती है। जिस समय जैसा भाग्य उदय होता है, उस समय मनुष्य वैसा करता है।

कुछ विचारक कहते हैं कि यह बात कुछ जमी नहीं। भाग्य किसने बनाया ? यदि कहो कि ईश्वर ने बनाया, जैसी भारतेतर देशों की मान्यता है, तो फिर वह ईश्वर नहीं कहा जायेगा ! यदि ईश्वर ने हमारा भाग्य बनाया तो वह एक बड़ा भारी राक्षस है क्योंकि उसने अधिकतर लोगों का भाग्य खोटा और दो-चार का अच्छा बनाया। यह कोई ईश्वर का लक्षण नहीं है। संसार में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि दुःख बहुत ज्यादा है और सुख बहुत कम है। यदि कहते हो कि भाग्य हमारे ही कर्मों का फल है, जैसा बौद्ध इत्यादि भारतीय संस्कृति वाले कहते हैं, तो प्रश्न उठता है कि आज तुम्हारा भाग्य ऐसा है, उसका कारण तो पूर्व जन्म के कर्म हैं, उस समय का भाग्य उसके पूर्व जन्म के कर्म थे। तो जब यह खेल शुरू हुआ, तब तुमने यह अच्छाई या बुराई किस कर्म के अधीन होकर

की ? अनादि कहकर हम प्रश्नकर्त्ता को चक्कर में तो डाल सकते हैं लेकिन विवेकी कहेगा कि अनादि का इतना ही तो रहस्य है कि आदि का पता नहीं। लेकिन यदि इस कार्य-कारण व्यवस्था को मानते हो तो कहीं तो शुरू होता। जैसे हमने एक चक्र (सर्किल) खींच दिया। खींचने के बाद जब वह पूरा हो गया तब तो कोई दूसरा आदमी यह नहीं जान सकता कि यह चक्र हमने कहाँ से शुरू किया था। कम्पास ने तो बना दिया, लेकिन आखिर शुरू तो किसी बिन्दु से ही किया था। इसी प्रकार से हमें आदि का पता न लगे लेकिन आदि हो ही नहीं, ऐसा तो कुछ नहीं है। यदि वहाँ तुम हमारी स्वतंत्रता मानते हो कि पहले-पहल पैदा हुआ तब स्वतंत्र है तो स्वतंत्रता हमारा स्वभाव है, आज भी उसे नहीं खो सकते।

अतः इस प्रकार से किसी ने प्रकृति के अधीन, किसी ने गुणों के अधीन और आजकल के मनुष्यों ने महाभूतों के अधीन माना है। उनकी संख्या ९२ या १०८ बता दी है। हर हालत में वे सब अधीन मानते हैं। लेकिन जैसा कहा कि यदि अधीन मानते हो तो सारा का सारा बौद्धिक संहार हो जाता है, मोरेलिटी का कोई आधार नहीं रह जाता। किसी व्यक्ति से हम बुरा कर्म करवायें और फिर उस बुरे कर्म करने की उसे सजा दें, ठीक इसी प्रकार से यह घटना हो जायेगी। वेदांती ने इसीलिये कहा कि यह बात बनती नहीं।

दूसरी बात यह कि अनुभव को हटाया नहीं जा सकता, अनुभव का अपलाप सम्भव नहीं है। अनुभव यह है कि हर परिस्थिति में हमारे सामने एक चुनाव (चौइस) आ जाता है कि यह करें या वह करें और उसमें स्वतंत्रता का अनुभव होता है। यहाँ तक कि विवेकी तो कहता है कि कोई आदमी हमारी छाती पर बंदूक रखकर कहता है कि 'तुम गलत कागज पर दस्तखत कर दो' तो वहाँ भी हम स्वतंत्र हैं कि मरें या दस्तखत करें। कहते ज़रूर हैं कि 'उसने छाती पर बन्दूक रख दी, क्या करें ?' लेकिन स्वतंत्रता नहीं जाती। इसीलिये वेदांत कहता है कि न हम काल के अधीन हैं, न स्वभाव के अधीन और न भाग्य के अधीन हैं। हम तो केवल स्वयं अपने द्वारा ही अपनी सम्भावनाओं को कमबेशी कर लेते हैं। कैसे कर लेते हैं ? मैं आठवें दर्जे का विद्यार्थी हूँ। इस समय मैं स्वतंत्र हूँ कि मैं आर्ट्स विषय लूँ, साइंस विषय या कामर्स विषय लूँ। लेकिन जब मैंने नौवें के अन्दर साइंस ले ली तो दसवें में आर्ट्स नहीं ले सकता। लगता है कि नौवीं के कारण मैं दसवीं में परतंत्र हो गया। लेकिन वहाँ भी मैं स्वतंत्र हूँ कि एक साल फिर नौवें में कामर्स विषय पढ़कर दसवीं में आ सकता हूँ। स्वतंत्रता है, स्वतंत्रता कहीं गई नहीं। कठिन हो गया है कि एक साल खराब होगा। साइंस में हायर सैकेण्ड्री कर ली, बी. एस-सी. में फिज़िक्स, मैथमैटिक्स, कैमिस्ट्री ले ली, बायलौजी नहीं ली; अगर चाहता तो बी. एस-सी.

के अन्दर चाहे कुछ भी लेता लेकिन एक बार ले लिया तो फिर लगता है कि अब एम. एस–सी. में जूलॉजी नहीं ले सकते। वहाँ भी स्वतंत्रता घटती नहीं हैं। पुनः मैं दूसरी बार बी. एस–सी. पढ़ सकता हूँ। जैसे–जैसे आगे बढ़ता जाता हूँ, वैसे–वैसे स्वतंत्रता सीमित होती है, लेकिन इतने पर भी वह स्वतंत्रता नष्ट नहीं होती, बनी तो रहती ही है।

इसी प्रकार सृष्टि के आदि काल से जब–जब हम किसी कार्य का चुनाव करते हैं तब आगे के चुनाव में रुकावट होती है, बस इतना ही है और कुछ नहीं। लेकिन एम. एस–सी. में पहुँचने पर भी मेरे सामने चुनाव फिर भी है कि बौटनी लूँ या जूलॉजी लूँ। एम. एस–सी. के बाद डी. एस–सी. में चले गये तो भी चुनाव में स्वतंत्रता है कि प्लाण्ट पैथालॉजी लूँ या अन्य कोई विषय लूँ। पढ़ने में कभी ऐसा नहीं हो सकता कि ऐसी जगह पहुँच जाओ कि आगे कोई चुनाव हो ही नहीं। यह कभी नहीं हो सकता। जितने भी विशेषज्ञ बनते चले जाओगे, तुम्हारे सामने फिर भी काफी बड़ा क्षेत्र होगा जिसमें से एक को जान सकते हो। इसी प्रकार सृष्टि के आदि से आज तक हमने अपने को चाहे जितना सीमित किया हो, इतने पर भी जहाँ पर हैं, उसके आगे भी अनंत चुनाव हैं। वहाँ तो हमारी पूर्ण स्वतन्त्रता है और जिन चुनावों से हमने अपने आपको सीमित कर लिया है, यदि उन चुनावों को बदलना चाहें

तो पीछे लौटकर बदल भी सकते हैं। इसीलिये स्वतंत्रता का जो अनुभव है वह, और उन्नति, दोनों किसकी स्वतंत्रता को बताते हैं ?

हम लोग प्रायः इन बाह्य साधनों और उपाधियों के बोझ से इतने दब जाते हैं कि उस स्वतंत्रता का ख्याल नहीं करते। कई बार हम लोगों से कहते हैं कि औरतें कहती हैं कि हमको स्वतंत्रता होनी चाहिये। आजकल बड़ा हल्ला गुल्ला हो रहा है। कभी सोचा कि औरतों को जिन बातों की स्वतंत्रता रही है, क्या उन्होंने उन स्वतंत्रताओं का कोई प्रयोग किया है ? विचार की दृष्टि है। होता यह है कि जो हमारी स्वतंत्रतायें हैं, उनका हम उपयोग नहीं करते और जो स्वतंत्रतायें नहीं हैं, उनकी प्राप्ति के लिये हल्ला मचाते रहते हैं। रूस के बारे में किसी एक विशेषज्ञ ने कहा था और बात ठीक है कि अमरीका वाले कहते हैं कि हम लोगों को बोलने-लिखने की स्वतंत्रता नहीं है, लेकिन हम अमरीका वालों से पूछते हैं कि तुमको सोचने की स्वतंत्रता है तो क्या तुम सोचते हो या तुम्हारे अखबार वाले सम्पादकीय में लिख देते हैं, उसके पीछे चलते रहते हो ? सोचने की स्वतंत्रता है, उसका उपयोग नहीं और बोलने की स्वतंत्रता नहीं है, उसका हल्ला है। प्रत्येक लड़के को स्वतंत्रता है कि अपने जीवन को व्यवस्थित करे। लड़कों से पूछो कि क्या तुम्हारा जीवन व्यवस्थित है ? नहीं है। लेकिन मांग करेंगे कि विश्वविद्यालय

के संविधान में हम विद्यार्थियों की आवाज भी होनी चाहिये। अपने शरीर और इन्द्रियों को नियंत्रित करने की स्वतंत्रता है, उसका उपयोग नहीं और विश्वविद्यालय की व्यवस्था में स्वतंत्रता के उपयोग का हमको अधिकार चाहिये। इसी प्रकार सब जगह समझो।

हम जब कहते हैं कि 'हम अपने को प्रारब्ध, काल के, समय के परतंत्र अनुभव करते हैं और गिना भी देते हैं कि यह करना चाहिये था, नहीं कर सके,' तब पूर्ण विचार से नहीं कहते। मानना पड़ेगा कि भाग्य कोई चीज है, मना नहीं करते। लेकिन यह बताओ कि जिन स्वतंत्रताओं का प्रयोग कर सकते थे, क्या उनका उपयोग तुमने किया ? चिंतन प्रणाली गलत पड़ गई है। इसका कारण यह है कि जो शक्ति और सामर्थ्य हममें आनी चाहिये, वह नहीं आ सकी। घर में बच्चे को घण्टा भर बिठाकर पण्डित से महाभारत की कथा सुनवा सकते हैं, यह स्वातंत्र्य हमारे पास है। सुन्दर नगर कालोनी में दो सौ विद्यार्थी होंगे। यदि प्रत्येक विद्यार्थी के पीछे पाँच-पाँच रुपये निकालो तो एक हजार रुपये में धर्म का अति उत्तम शिक्षक रख सकते हो, वह तुम्हारे बच्चों को धर्म की शिक्षा दे देगा। इतवार को दिन भर और बाकी दिन में पाँच-पाँच का ग्रुप बना लो, प्रतिदिन एक-एक घण्टा वह उन्हें पढ़ा दे। यह तुम कर सकते हो, तुम इसमें स्वतंत्र हो, कानून इसमें रुकावट नहीं डालता। लेकिन जब बात आयेगी, कहेंगे 'जब तक

सरकार स्कूलों में धर्म की शिक्षा (रिलीजस ट्रेनिंग) नहीं देगी, तब तक कुछ नहीं हो सकता'। जिसकी स्वतंत्रता है, जो कर सकते हो उसका उपयोग नहीं करोगे, जो नहीं कर सकते हो उसे सोचते रहोगे ! यह मनुष्य के पिछड़ने का लक्षण है। जैसे धार्मिक शिक्षा के बारे में, वैसे ही सब क्षेत्रों में समझ लेना।

हम लोगों में चिंतन प्रणाली की एक गलती होती है कि हम क्या नहीं कर सकते हैं, इसका हम जितना चिंतन करते हैं, उतना हम क्या कर सकते हैं, इसका चिंतन नहीं करते। जैसे-जैसे व्यक्तित्व को हम बढ़ायेंगे, वैसे-वैसे हम जो नहीं कर सकते, वह तो जानते ही हैं, उसको बोलने की जरूरत नहीं है। लोग कहते हैं कि 'हमारी बड़ी इच्छा है पाँच हज़ार रुपये धर्म के काम में लगायें लेकिन क्या बतायें ! सामर्थ्य नहीं है।' बहुत ठीक है। लेकिन यह तो तुम्हारी सामर्थ्य है कि रोज पाँच आदमियों को एक मुट्ठी आटा दे दो। क्या देते हो ?

आत्मा ही स्वातंत्र्योन्मेष का मूल है। संसार में शरीर, मन और बाह्य जगत् आदि सब तो नियमों में बंधे हैं। यदि नियम में नहीं बँधा हुआ है तो आत्मा है, यह परम स्वतंत्र है। इसकी स्वतंत्रता सारे संसार के वैचित्र्य (वरायटी) का बीज है, मूल कारण है। स्वतंत्रता न होती तो जैसे संसार के बाकी सब पदार्थ हैं वैसे आत्मा भी होता। सोने के एक परमाणु के गुणों को यदि मैंने समझ लिया तो जहाँ

कहीं सोने का परमाणु मिलेगा, वैसा ही मिलेगा। उसके बारे में जो हम कहेंगे, वह ठीक उतरेगा। लेकिन क्या कोई कह सकता है कि एक मनुष्य की हमने परीक्षा कर ली तो सारे मनुष्यों को समझ लेंगे ? एक ही परिस्थिति के अन्दर एक ही माता-पिता से उत्पन्न दो पुत्र वहीं बड़े हुए। उनमें से एक व्यक्ति पाँच रुपये की घूस खाकर दूसरे का कत्ल करवा देता है, दूसरा भूखा रहने पर भी उसे कोई पाँच लाख रुपये भी दे तो गलत काम करने से इन्कार कर देता है। माँ-बाप एक हैं, परिस्थिति एक है, सब कुछ एक है। यहाँ तक कि अमरीका में और सिंगापुर में दो बच्चों पर प्रयोग किया गया, जिनका शरीर भी जुड़ा हुआ (सायामी) है और जिनका खून भी एक साथ बहता है। सिंगापुर वाले की पीठ का भाग जुड़ा था और एक ही रक्त का संचार होता था। साथ-साथ पैदा हुए, और ऐसे जुड़वा जिनका खून एक होता है, उनकी मानसिक चीजों का अध्ययन किया गया। वहाँ भी दोनों के स्वभाव में फ़र्क पाया गया। रक्त का एक संचार हो रहा है, एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए हैं, सब कुछ एक है, वातावरण एक है, नितम्ब चिपके हैं, इतने पर भी दोनों के स्वभाव में भेद है ! इसका कारण आत्मा की स्वतंत्रता है । उसकी स्वतंत्रता नहीं हटती है। इसीलिये जब मनुष्य का अध्ययन करते हो तब सारे संसार से भिन्न कोई चीज मिलती है और इस भेद का कारण आत्मा है।

संसार में आज विज्ञान बड़ी उन्नति कर रहा है। आज ही पढ़ने को मिला कि अमरीका वालों ने बृहस्पति के लिये अपना जहाज भेजा है। वह पाँच करोड़ किलोमीटर प्रति घण्टा की रफ़्तार से चलता है। पहले तो यह कल्पना के बाहर की चीज है। लेकिन विचार करो कि इतनी बाह्य प्रगति होने पर भी क्या मानव की अपनी समस्याओं का कोई हल निकल पा रहा है ? ठीक से समझना। इतनी बड़ी प्रगति कर ली कि पाँच करोड़ किलोमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से हमने यान तो चला दिया लेकिन घर में बीबी ने कह दिया, 'आज तो चाय खत्म हो गई, काफी पी लो' तो वही वैज्ञानिक चिल्ला पड़ता है कि 'तेरे को इतना भी सहूर नहीं है।' जैसे गुफा में रहते हुए आदमी अपनी पत्नी पर चिल्लाता था, उसी प्रकार आज बड़ा भारी वैज्ञानिक भी कहता है। जिन राग-द्वेषों से वे आक्रान्त थे, वैसे ही आज हम आक्रांत हैं। विचार करो, हमारी सारी प्रगति ने हमको क्या दिया, हमारे हाथ क्या लगा ? यदि भारतीय संस्कृति की कोई सबसे बड़ी देन है तो यही है कि यह सब वैज्ञानिक प्रगति करो लेकिन अपनी तरफ भी नज़र डालो।

असली चीज तो तुम खुद हो। इसीलिये हम लोगों ने सबसे ज़्यादा आविष्कार, प्रयोग और उन्नति इसी स्तर पर करने का प्रयास किया कि मानव की आत्मा के स्वातंत्र्य को हम कैसे बढ़ायें। तुमने गाली दी, हमको गुस्सा आया, यह बिल्कुल स्वाभाविक है। यहाँ पर हम अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। गाली सुनने

से मन को क्रोध आना — यह तो कार्य–कारणभाव हो गया। केवल आत्मा में यह विशेषता है, कि वह मन के इस विकार को इस संकल्प से रोक ले कि 'मैं क्रोध नहीं करूंगा," यह स्वतंत्रता है और ऐसा होता भी है। अपने पिता हैं, बुड्ढे हो गये हैं। अब उनकी विचारशक्ति क्षीण हो गई। अच्छा से अच्छा काम करके आते हैं और वे कहते यही हैं कि 'काम बिगाड़ आया । उसे रुपये दे आया, डूब जायेंगे, तू घर बरबाद करेगा ।' उन्हें कहना चाहिये कि 'तुम नहीं समझते, तुम समझते हो कि वह गरीब है, गरीब नहीं है।' तुम पंजाब नैशनल बैंक के कस्टोडियन बन गये हो, पिता को डाँट सकते हो, लेकिन समझदार व्यक्ति चुप रह जाता है । इस उम्र में क्या कर सकते हैं ! यह मन में आता है । लेकिन कहता है — 'हाँ ! पिताजी, अब तो कर ही आया।' यहाँ हम में क्रोध आने की परिस्थिति थी लेकिन हमने स्वतंत्रता का प्रयोग किया। आज हम स्वतंत्रता के प्रयोग को कम करते जा रहे हैं। हमको सिखाया भी यह जाता है। हम स्वतंत्रता का प्रयोग न करके प्रवाह में बहना चाहते हैं। हम लोगों का हमेशा यह कहना रहा है कि प्रवाह में बहना चाहते हो, बहो, बहता तो तिनका भी है, लेकिन मनुष्य तैर सकता है। आज की इस समग्र वैज्ञानिक उन्नति के अन्दर यदि हमने अपनी इस स्वतंत्रता का विकास किया तब तो यह वैज्ञानिक उन्नति हमें लाभप्रद हो भी सकती है और यदि ऐसा नहीं किया तो यह सब व्यर्थ है और सम्भवतः हानिकारक भी हो जायेगी।

यह जो व्यक्तित्व का विकास है, इसका वास्तविक दृष्टिकोण इस स्वतंत्रता को बढ़ाना है क्योंकि तभी इस जगत् के अन्दर रहते हुए हम वस्तुतः अपने आपको मानव समझ सकेंगे और मानव के दृष्टिकोण से कार्य कर सकेंगे।

स्वतंत्रता के विकास का सीधा तरीका है। एक नियम है कि जिस अंग का प्रयोग करोगे, वह पुष्ट होगा और जिसका प्रयोग नहीं करोगे, वह कमजोर होगा। बहुत से लोग बैठे ही रहते हैं। दिल्ली में हम आते हैं तो बैठे रहते हैं। फिर किसी पहाड़ पर चले जाते हैं। पहले दिन दो मील घूमकर आते हैं तो लगता है कि थक गये। वहाँ कुछ दिन रहकर अभ्यास हो जाता है तो कोई थकावट नहीं होती, पैर मजबूत हो जाते हैं। फिर दिल्ली आकर बैठ जाते हैं तो नितम्बों में दर्द होता है क्योंकि बैठने की आदत नहीं रह गई है ! जिस अंग का प्रयोग करोगे, वह पुष्ट होगा। समाज में भी यही नियम है। अधिकार काम करने से आता है। तुम मालिक हो, रोज मुनीम से हिसाब पूछो और बताओ कि यह ठीक किया और यह गलत किया। यदि मुनीम के भरोसे काम दे दिया और रोज उससे पूछा नहीं तो थोड़े दिन बाद जब पूछोगे कि 'यह काम गलत कैसे किया,' तब वह डाँटेगा कि 'ऐसे ही होता है।' ऐसा इसलिये हुआ कि तुमने अपने अधिकार का उपयोग नहीं किया तो वह अधिकारी बन गया। घर में कभी पत्नी ने पूछा कि 'क्या साग-दाल बनाऊँ ?' तुमने कहा 'जो तेरी मर्ज़ी।' फिर एक दिन कहोगे कि

'आज मूँग की दाल बना दे' तो वह कहेगी कि 'आज अरहर की बनाऊँगी।' जब रोज उसकी मर्ज़ी तो एक दिन तुम्हारी मर्ज़ी कहाँ से टपक पड़ी ? अधिकार के प्रयोग से अधिकार बढ़ता है, केवल पर्चा लेकर घूमने से नहीं। आज बड़ा हल्ला है कि हमारे मौलिक अधिकारों (फण्डामैण्टल राइट्स) का क्या होगा ? क्या कभी कोई सोचता भी है कि इन अधिकारों का प्रयोग करें ? जब दूसरे ने ले लिया तब हल्ला मचा रहे हैं, लेकिन इससे पहले उनका प्रयोग करके तुमने कौनसी नवीनता लाई है ? कुछ नहीं। वोट देने का तुम्हारा अधिकार है। क्या सचमुच तुमने उस अधिकार का प्रयोग किया ? जिससे पूछो, वही कहता है कि सरकार बुरी है। अरे ! तुमने ही वोट देकर सरकार बनाई है। कहते हैं—वह बात दूसरी है। हम वोट देकर गलत सरकार बनायेंगे लेकिन हमें अधिकार होना चाहिये। सब चीज़ों में यही नियम है ।

इसी प्रकार हमने मन और शरीर को इतना ज़्यादा अधिकार दे दिया कि आत्मा सारे अधिकार वाला होने पर भी उसका अधिकार आज शून्य-सा है। उसका स्वतंत्रता का अधिकार कहीं गया नहीं। पुनः स्वतंत्रता का विकास, व्यक्तित्व का विकास कैसे आये ? धीरे-धीरे अपनी स्वतंत्रता को उद्दीप्त (ऐसर्ट) करना पड़ेगा। छोटी-छोटी बातों में इसे उद्दीप्त करना पड़ेगा । एक साथ चाहोगे कि हम आज मुनीम को कान पकड़कर निकाल दें तो सारा व्यापार ठप्प हो जायेगा। धीरे-धीरे, महीने-दो-महीने मुनीम के काम को

समझकर सारा नियंत्रण अपने हाथों में लेना पड़ेगा। इसी प्रकार एकदम चाहोगे कि आज ही बैठकर मन से समाधि लगा दें, तो नहीं लगने वाली है। छोटी-छोटी बातों से मन पर नियंत्रण प्रारम्भ करना पड़ेगा। जैसे-जैसे यह नियंत्रण प्रारम्भ करोगे, वैसे-वैसे तुम्हारी स्वतंत्रता उद्दीप्त होगी, धीरे-धीरे बढ़ती चली जायेगी और वैसे-वैसे तुम्हारे जीवन में व्यक्तित्व की पूर्णता अधिक-अधिक आती चली जायेगी। हिन्दुओं के जीवन में अनेक चीजों के छोटे-छोटे नियम हैं। आजकल प्रायः लोग यह कह देते हैं कि 'महाराज ! इसमें क्या रखा है ?' रखा तो कुछ नहीं है, हम भी जानते हैं कि कुछ नहीं रखा है। जैसे छोटी सी बात है कि सवेरे चार बजे उठना है। चार बजे उठो, छः बजे उठो, फ़र्क क्या पड़ता है ! गर्मियों में सवेरे चार-साढ़े चार बजे ही ठण्डी हवा चलती है, रात भर गर्मी पड़ती है। वैसे मौसम विज्ञान वाले भी उसे अति ठण्डा काल (कोल्डैस्ट टाइम) कहते हैं। और सर्दियों में भी रजाई सबसे ज़्यादा मीठी सवेरे चार बजे लगती है । इसीलिये चार बजे उठने का नियम किया क्योंकि शरीर और मन सब हल्ला मचाने वाले हैं कि 'हम चार बजे नहीं उठना चाहते।' अब हम अपनी आत्मा की स्वतंत्रता को उद्दीप्त करते हैं कि हम चार बजे ही उठेंगे। है यह बड़ी छोटी-सी चीज़, केवल इस एक नियम को मनुष्य करे तो देखने लगता है कि उसकी स्वतंत्रता आगे बढ़ने लगती है । इसी प्रकार से जितने छोटे-छोटे नियम बनाये गये, इन सबका रहस्य अपनी स्वतंत्रता को बढ़ाना है ।

जब धीरे-धीरे आगे बढ़ते जाओगे तो इन नियमों की जरूरत नहीं पड़ेगी। दूसरे दर्जे में जब बच्चे को जोड़ सिखाया जाता है तब उसे ऐसी कापी देते हैं जिसके अन्दर इकाई-दहाई के लिये चौकोर खाने बने होते हैं। यदि गलत लिख दे तो काट देते हैं। जोड़ो तो उसके नीचे लिखो, गुणा करो तो उसके नीचे लिखो। दूसरी लाइन का गुणा करना है तो चार का पहाड़ा पढ़ो। यह सब सीखना पड़ेगा, कब तक ? यह तो नहीं कि एम. एस-सी. में बैठकर तुम किसी एस्ट्रोफिजिक्स का हल कर रहे तो इकाई-दहाई देखो। कई बार इधर जोड़ की संख्या लिखी है, उधर दाहिनी तरफ लिख रहे हैं; क्योंकि अब तुम्हें अभ्यास हो गया है, अब कहीं भी लिखोगे तो तुम उसे ठीक समझ लोगे। बच्चे को वहाँ स्वतंत्रता दोगे तो गड़बड़ा जाओगे। इसी प्रकार जब तुम्हारी यह स्थिति हो गई कि तुम जब चाहो, तब उठ जाओ, जैसे नेपोलियन तोप के नीचे ही आधे घण्टे के लिये सो जाता था और फिर जागकर काम के लिये तैयार हो जाता था, तब सवेरे चार बजे उठने की ज़रूरत नहीं। अर्जुन का नाम ही गुडाकेश था, वह नींद का अधिपति था। इसी प्रकार इन छोटे-छोटे नियंत्रणों से जब आगे बढ़ते जायेंगे और पूर्ण स्वतंत्रता की तरफ बढ़ेंगे, तब इनकी आवश्यकता नहीं रह जायेगी। लेकिन शुरू में जब इनकी मदद लेंगे, तभी आगे बढ़ पायेंगे। ये जितने नियम हैं, इन सबका मूल आत्मा की स्वतंत्रता को विकसित करना है। शरीर और मन के ऊपर आत्मा को हावी करना है, ऊँचा

बनाना है, आगे बढ़ाना है। इसी प्रकार इन नियमों का पालन करते हुए जब धीरे-धीरे अपनी स्वतंत्रता विकसित होती जाती है, स्वतंत्रता आगे बढ़ जाती है तब व्यक्तित्व का विकास पूर्ण होता है।

आज के विश्व में भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी देन इस व्यक्तित्व के विकास के बारे में है कि किस प्रकार हम अपने व्यक्तित्व को बढ़ायें और अपने आपको स्वतंत्र करें। जितना-जितना हम अपने वैज्ञानिक आयुधों को बढ़ा रहे हैं, उतना-उतना हम उनके बोझ से परतंत्र हो रहे हैं। यहाँ से यदि चन्द्रमा के लिये हम हवाई जहाज में चढ़ गये तो तीन दिन के लिये परम परतंत्र हो गये। हम तो कई बार रेल में जाते हैं तो उसमें परतंत्रता का बोध होता है। एक स्टेशन और दूसरे स्टेशन के बीच कुछ नहीं कर सकते। घूमने का दिल हो तो नहीं घूम सकते। दूसरा स्टेशन घण्टा भर बाद आया तो चल जाता है लेकिन यदि चन्द्रयान में बैठ गये तो ७२ घण्टे की गुलामी हो गई, इससे भी ज़्यादा समझ लो क्योंकि वापिस आने तक गुलामी ही है। आज हम पहाड़ की यात्रा या पैदल चलने की यात्रा को आनंद नहीं समझ रहे हैं। रेल की परतंत्रता हमें अच्छी लगती है। दो-तीन बार केदार-बद्री पैदल गये। एक बार एक सज्जन मोटर में ले गये। बहुत आग्रह हुआ तो चले गये। रास्ते में बड़े-सुन्दर झरने बह रहे थे, पानी पीने की इच्छा थी। सारथी से कहें कि इस झरने का पानी बड़ा अच्छा है, तब तक मोटर दो फर्लांग चली

जाये और हम सोचते ही सोचते रह जाते थे। गाड़ी से जाने में पानी पीने की ही स्वतंत्रता नहीं। जब पानी पीने का जिक्र करें तो लोगों ने पानी गरम करके और फिर उसे ठण्डा करके फ्लास्क में रख दिया था, वह पीने को दिया गया। झरने के पानी की तरफ दृष्टि नहीं है। यह सब परतंत्रता है। लेकिन इन सब परतंत्रताओं के बढ़ने पर यदि हमने अपने व्यक्तित्व को, आंतरिक विकास की स्वतंत्रता को बढ़ाया तो ठीक सामंजस्य आ जायेगा, नहीं तो यह परतंत्रता यहाँ तक आगे बढ़ जायेगी कि आत्मा हमको छोड़ कर चला जायेगा। साइंस फिक्शन में कहा है कि भविष्य में एक ऐसी पीढ़ी आयेगी जो आटोमैटोन होगी। उनमें अपनी स्वतंत्रता कुछ नहीं होगी। व्यक्तित्व का विकास आज के युग की बड़ी माँग है। जब व्यक्तित्व को अच्छी तरह आगे बढ़ाओगे, तभी यह वैज्ञानिक उपकरण लाभ के हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। यह व्यक्तित्व के विकास के बारे में संक्षेप में बताया।

प्रारंभ किया था कि अपने आपको प्रकट कहाँ करना है, और समाप्ति में बताया कि पूर्ण स्वतंत्रता प्रकट करनी है, आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता तक पहुँचना है। पहुँचने के तरीके संयम आदि हैं जिनके द्वारा धीरे-धीरे सब स्तरों पर नियंत्रण करते हुए ध्यान आदि के द्वारा पूर्णता को प्राप्त कर समाज में इसको अभिव्यक्त करते हुए अंत में हमें पूर्ण स्वातन्त्र्य में पहुँचना है।